

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 4 अंक 4

अप्रैल-जून 2007

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

विषय-क्रम

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	\$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	\$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

आस्था भारती

12/604 ईस्ट एंड अपार्टमेन्ट

मयूर विहार फेस-1 विस्तार

दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए डॉ. बी.बी. कुमार, सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित।

फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati@yahoo.com, asthab@vsnl.net

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य		5
1. ईश्वर	शंकर पुणतांबेकर	7
2. धर्मपाल, जिन्होंने रास्ता दिखाया	रामबहादुर राय	14
3. गोवारीकर का 'स्वदेश' और आधुनिक भारत की स्वाधीन मुक्ति-चेष्टाएँ	रमेशचंद्र शाह	23
4. हिमालयी संस्कृति	कृष्णनाथ	31
5. जाति-व्यवस्था का सच	शंकर शरण	39
6. आलोचना का स्त्री पक्ष और स्त्रित्व का आख्यान	रमेश दवे	51
7. नाग भाषा परिवार और प्राकृत भाषाएँ	राजमल बोरा	57
8. मुहम्मद इकबाल की काव्यचेतना में इस्लाम	शत्रुघ्न प्रसाद	69
9. भारतीय प्रजातंत्र में विकृति	नरेश कुमार अम्बष्ट	77
10. विश्वात्मा सर्वशैलोत्तमोत्तमम्-मेरुः	राजीव रंजन उपाध्याय	85
11. पुस्तक चर्चासमसामयिक चिन्ताएँ	ब्रज बिहारी कुमार	88
12. पुस्तक चर्चासमसामयिक कविताओं का उदात्त स्वर	पुष्पपाल सिंह	95
13. हम कौन थे क्या हो गए!	नित्यानन्द श्रीवास्तव	98
14. भारतीय संस्कृति की अनोखी पहचान उत्तर कुरु	कु. अपराजिता राय 'वर्षा'	108
15. पाठकीय प्रतिक्रिया		117
16. प्राप्ति-स्वीकार		121

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

विचारों की इमर्जेंसी

अभी-अभी पर्दा प्रथा पर राजस्थान के राज्यपाल प्रतिभा पाटिल के बयान के बाद बहुत बवाल मचा है। राजनीतिक दलों के तीसरे मोर्चे के सूत्रियों के बयान अखबारों में आये हैं; जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय तथा दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रोफेसर्स के भी। श्रीमती पाटिल ने उदयपुर में महाराणा प्रताप के 467वें जन्म-दिन के समारोह के अवसर पर कहा था कि मुगल आक्रमणकारियों से औरतों को बचाने के लिए भारत में पर्दा-प्रथा का प्रचलन हुआ था।

पर्दा प्रथा के विषय में वामपंथी इतिहासकार सतीशचन्द्र ने अपनी पुस्तक 'मेडिएटल इण्डिया' में जानकारी दी है, जिसके अनुसार यह प्रथा अरबों एवं तुर्कों द्वारा भारत में लायी गयी थी तथा दिल्ली सल्तनत के समय में उत्तर भारत में फैली। पुस्तक में उन्होंने स्वीकार किया है कि आक्रमणकारियों द्वारा पकड़े जाने के भय से हिन्दू औरतों ने पर्दा अपना लिया था। राजस्थान में दिल्ली सल्तनत का प्रभाव बहुत कम रहा; मुगल प्रभावी रहे। अतः वहाँ पर्दा-प्रथा का प्रचार मुगलों के समय में ही हुआ, ऐसा विश्वास किया जाता है, जैसा कि श्रीमती पाटिल ने कहा।

श्रीमती पाटिल के कथन के बाद बयानों की बाढ़ आ गयी। किसी ने पर्दा एवं स्त्रियों के अलगाव की बात मौर्यकाल तक तथा किसी ने वैदिक काल तक होने की बात कह डाली। इरफान हबीब ने इस वक्तव्य को हास्यास्पद कहते हुए इस प्रथा के मौर्यकाल में होने तथा इसका उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में होने की बात तक कर डाली। और साथ ही उन्होंने श्रीमती पाटिल को, जो उनके अनुसार राष्ट्रपति बनने की उम्मीद में हैं, अधिक सावधानीपूर्वक बात करने की लगे हाथ सलाह भी दे डाली। दिल्ली विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर ने पिछले 50 वर्षों के दौरान पढ़ाए जा रहे इतिहास को ऐसे वक्तव्यों का कारक बताया। इस समवेत स्वर में विभिन्न मुस्लिम संगठनों के नेता भी अपनी आवाज मिलाने में पीछे नहीं रहे। जमियत उलिमा-ए-हिन्द के महासचिव मौलाना महमूद मदनी ने कहा कि श्रीमती पाटिल ने इतिहास को तोड़ा मरोड़ा है, वे माफी माँगें तथा अपना वक्तव्य वापस लें। उन्होंने जमियत कार्यसमिति में उनके विरुद्ध प्रस्ताव पारित करने की बात भी की। श्रीमती पाटिल के वक्तव्य पर वामपंथी बौद्धिकों, मुस्लिम संगठनों, राजनीतिक दलों के नेताओं के अतिरिक्त महिला संगठनों ने भी अपना विरोध जताया। यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि इस सारे शोरगुल में श्रीमती पाटिल की अच्छी बातें दब सी गयीं कि अब पर्दा प्रथा को त्याग देना चाहिए।

इस विरोध के क्रम में श्रीमती पाटिल को मुस्लिम विरोधी तथा “नान-सेकुलर” भी कहा गया। विरोध करनेवालों की नजर में वे धर्म-निरपेक्ष न रहीं; विरोध जारी है। ध्यातव्य है कि यह पहला अवसर नहीं है कि इस तरह का विवाद इस देश में उभरा है।

अभी पिछले कुछ सप्ताह के दौरान राष्ट्रपति पद के प्रत्यासी की नामजगदी का प्रश्न भी ‘सेक्युलर-नान-सेक्युलर’ विवाद के घेरे में रहा और जिस तरह की बातें चलती रही उससे साफ था कि गांधी भी उनकी परिभाषा के अनुसार धर्म-निरपेक्ष नहीं हो सकते। इस प्रश्न पर अत्यन्त असम्मानजनक तरीके से कुछ दलों का निषेधाधिकार का प्रयोग इसलिए भी चिन्ताजनक है क्योंकि इससे धर्म-निरपेक्षता मखौल बनती जा रही है। उसका अवमूल्यन होता जा रहा है। प्रश्न हैं कि क्या हम धर्म-निरपेक्षता के उन मापदंडों को स्वीकृति दे सकते हैं? उसकी वह परिभाषा मान सकते हैं जिस पर कर्ण सिंह तथा शिवराज पाटिल जैसे लोग भी खरे नहीं उतरते? आखिर उन्हें धर्मनिरपेक्षता का प्रमाणपत्र देने का अधिकार किसने दिया? कर्णसिंह तथा शिवराज पाटिल जैसे जीवन तथा राजनीति की लम्बी पारी खेल चुके लोगों को जनता पहचानती है। उन्हें जब चाहे धर्म-निरपेक्षता या ऐसे ही किसी प्रश्न पर कठघरे में खड़ा नहीं किया जा सकता है, इस बात को राजनीति कर्मियों/दलों को तो अवश्य जानना चाहिए। आखिर पसन्द-नापसन्द, स्वीकृति-अस्वीकृति के दूसरे कारण तो खोजे ही जा सकते थे।

प्रश्न और भी हैं। क्या श्रीमती प्रतिभा पाटिल के बयान से उपजा बवाल हमारे प्रजातंत्र की स्वस्थ दिशा तथा दशा का परिचायक है? क्या इस प्रवृत्ति को चलने और बढ़ने दिया जा सकता है? क्या इस देश में किसी को अपने विचार रखने से रोका जा सकता है? क्या विचारों की इमर्जेसी लगाना उचित है? क्या यह देश, जिसने तीस साल पहले राजनीतिक इमर्जेसी के प्रयास को नाकाम कर दिया था, इस नयी इमर्जेसी - विचारों की इमर्जेसी - को सहन करेगा?

समस्या के कई पहलू, कई आयाम हैं। इसके तार कई विन्दुओं से जुड़े हैं। हमारी विकृत राजनीतिक संस्कृति से, विभाजित विभ्रमित समाज से, विश्वविद्यालयों पर कब्जा जमाए बैठे सक्रियतावादियों/‘एक्टिविस्टों’ से, जिनके अपने ‘एजेण्डा’ हैं। समस्या बौद्धिक दरिद्रता के बने रहने की है, जिसके हटाए बिना न राष्ट्र का विभ्रम दूर होगा और न वैचारिक इमर्जेसी का खतरा।

ब्रज बिहारी कुमार

ललित निबंध

ईश्वर

शंकर पुणतांबेकर*

ईश्वर के बारे में मैं...मैं एक सामान्य व्यक्ति बात करे कुछ अजीब बात है, नहीं? अच्छे-अच्छे ज्ञानी-ध्यानी जिसके रूप-गुणों के बारे में अनादि-अनंत कहकर उसकी विराटता का संकेत दे गये, उस ईश्वर के संबंध में मैं, एक सामान्य प्राणी, क्या कुछ कह सकता हूँ।

हां, ईश्वर विराट है, आकाश की भांति अनादि-अनंत। आकाश की ही भांति अमूर्त, मेरी मुट्टी की पकड़ में न आ सकने वाला। उसी की भांति वह है और नहीं है। नहीं है में से है ऐसा गूढ़।

आकाश विराट है, अमूर्त है तथापि वह मेरे आंगन में, मेरी खिड़की में, मेरी आंखों में उतर आता है, जितना उतर आता है अपने आप में पूर्ण है, जैसे बूंद अपने आप में पूर्ण होती है।

मैं यदि आंगन, खिड़की और आंख हूँ तो ईश्वर भी मुझमें ऐसे ही उतर आता है।

और दुख की बात है कि मुझमें न आंगन रह गया है न खिड़की। हां आंख जरूर शेष है। बल्कि उसका विस्तार हुआ है, किन्तु उस पर गॉगल चढ़ा है पैसे का, सत्ता का, प्रतिष्ठा का।

कुंभराज में बचपन में हमारे मकान के सामने कमरजी का चौथरा था। चौथरे के नीचे जहां हम अंटे...गोलियां खेला करते वहां चौथरे पर अष्टा-चंगा। अष्टा-चंगा के पास इमली के बीज के होते। लोग कभी-जभी आकर कमरजी को पूजते, मन्तों लेकर आते। ईश्वर से मेरा पहला परिचय यहीं हुआ। घर के बाहर। घर के अंदर देवता थे जिनकी पूजा कभी-जभी जब पिताजी बाहर चले जाते मुझे करनी पड़ती, जिसे मैं कपड़े धो डालने या सफाई-वफाई करने-जैसे काम की तरह कर देता, बल्कि चाहता कि बड़े भाईसाहब यह काम करें। लोग कमर जी के पास मन्तों लेकर आते इससे मुझे पता चला कि भगवान चाहे तो आदमी को सब-कुछ दे सकता है।

घर पर तुलसीकृत रामायण थी जिसकी कई चौपाइयां और दोहे हम दोनों भाइयों का कंठस्थ थे। लोगों से सुनते थे और रामायण पढ़ते भी थे। जो रामायण

* 2 मायादेवी नगर, जलगांव-2, 425-002

लकड़ी के नक्षीदार स्टैंड पर रखी रहती थी। यह स्टैंड हाथ से जुड़े पंजों की भांति था घड़ीदार। कभी रात में रामायण का पाठ भी चलता एक-एक माह तक। हम बड़े चाव से सुनते। परिणामस्वरूप राम मेरे लिए पूज्य भगवान बन गये। फिर चितांबरे साहब का राममंदिर भी था जहां हम प्रायः जाया करते उनके बच्चों के साथ खेलने। रात की आरती में भी कई बार हिस्सा लेते। भाईसाहब तो हाथ झुलाकर घंटा भी बजाते।

सत्य, शिव, सुन्दर रूप है ईश्वर। हम उसके सुन्दर रूप से पहले प्रभावित होते हैं। आगे हम उसके शिव रूप से परिचित होते हैं। सत्यरूप से तो अधिकांशतः होते ही नहीं। उसके शिवरूप में ही अटके रह जाते हैं। देखो भगवान, मैं तुम्हें दक्षिणा चढ़ा रहा हूँ, नैवेद्य अर्पित कर रहा हूँ, आरती गा रहा हूँ, मेरा प्रमोशन करा दो, भ्रष्टाचार के चल रहे मुकदमे से बरी करा दो, चार बेटियों के बाद बस अब एक बेटे की कृपा कर दो।

ईश्वर के सत्य रूप से परिचित हो जायें तो हमें उससे कुछ मांगने की जरूरत ही न रह जाये! ईश्वर क्या हमारी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली शक्ति है! और यदि नहीं है तो स्वयं उसकी आवश्यकताओं पर ही प्रश्नचिह्न नहीं लग जाता! विज्ञान ने लगा भी दिया है!

ईश्वर का सत्यरूप क्या है?

इस पर तो भाई बड़े-बड़े पोथे रचे गये हैं, ऊंचे-ऊंचे शास्त्रार्थ हुए हैं, ऋषि-मुनियों ने युगों चिंतन-मनन किया है, तब भी हम इसे जान नहीं पाये हैं। ईश्वर को तभी तो रहस्यमय कहा है।

ईश्वर वास्तव में अपने सत्य रूप में अनुभूति है...आनंदानुभूति। कवि की बिम्बात्मक अनुभूति की भांति। इस आनंद का कोई बिम्ब नहीं, इसकी अभिव्यक्ति में हमने इसे नाना रूप प्रदान कर दिये। इसकी सात्विकता के लिए हमने इसे शिव रूप दिया और मधुरता के लिए सुन्दर रूप।

नाना अभिव्यक्ति नाना ईश्वर। ईश्वर-ईश्वर के बीच की लड़ाई अनुभूति-अनुभूति की नहीं अभिव्यक्ति-अभिव्यक्ति की होती है।

फिर अभिव्यक्ति हमारे परिवेश की देन होती है। परिवेश के अनुरूप मैं आनंदानुभूति की अभिव्यक्ति में बरसात में भीगता हूँ, नदी या तालाब में अवगाहन करता हूँ अथवा बाथरूम के फव्वारा में नहाता हूँ।

अनुभूत ईश्वर, अभिव्यक्त ईश्वर।

आगे हुआ यह कि अभिव्यक्त ईश्वर ही सब-कुछ बन गया। अनुभूत ईश्वर भुला दिया गया। मूर्ति, मंदिर, पूजा इसलिए थे कि चित्त सत बने और सत चित्त में आनंद पैदा हो। पर ये सात्विक आनंद के नहीं रजस आनंद के भौतिक आनंद के साधन बन गये, कइयों के लिए जादू-टोने वाले तामसी आनंद के।

कमरजी के चौथरे पर अष्टा-चंगा खेलते हुए मैंने कमरजी से पांसे डालते हुए कभी मन्नत नहीं की कि मुझे चंगा देना, अष्टा देना। हार जाता था तो मन बड़ा दुखता था। पर सोचना मनचाहा पांसा पड़े इसमें जैसे पांसे फेंकनेवाला कुछ नहीं कर सकता उसी तरह कमरजी भी नहीं।

और उस उम्र में भी कभी सोचा था, यह मैं कैसा खेल-खेल रहा हूँ जिसमें गिल्ली-डंडे की भांति न मेरे कौशल का हाथ है और शतरंज की भांति न मेरी बुद्धिमत्ता का। उलटे इस खेल से मैं प्रकृति के बीजों को नष्ट कर रहा हूँ।

आज सोचता हूँ अष्टा-चंगा का यह अंधा खेल सत्ता और पैसे के लोग भी खेलते हैं जिनके सारीपाट पर होते हैं प्रकृति से जुड़े, श्रम-चरित्र-ज्ञान-कला से जुड़े लोग, जिस खेल के पांसों पर न खेलनेवालों का बस न भगवान का।

बचपन में मैंने भी नानी से कहानियाँ सुनी हैं। नानी जहां परी की कहानियाँ सुनाती वहां पुराण की भी। ध्रुव-प्रह्लाद-नचिकेता की कहानियाँ, हरिश्चन्द्र-शिवि-बलि की कहानियाँ, अहिल्या-सावित्री-शकुन्तला की कहानियाँ। कक्षा में मास्टरजी भी कहानियाँ सुनातेभागवत में से, शिवपुराण में से, वेदों में से।

इन कहानियों में से जाने-अनजाने संस्कार बनते हैं और बनते हैं जीवनमूल्य जो ईश्वर से लिपटे होते हैं, सो ये हमारे मानस के ईश्वर को व्यापक शिव और सुन्दर रूप प्रदान करते हैं।

बचपन में सही कहा जाये तो ईश्वर कहानी ही होती है अद्भुत रस से भरी हुई और भयानक पर विजय पाती। देव अद्भुत रस से ओतप्रोत तो दैत्य भयानक रस से। दोनों में खूब WWF चलता है और दैत्य नित्य मुँह की खाता है। पुराण कहानी और यथार्थ कहानी में बड़ा अंतर है। यथार्थ कहानी में दैत्य नहीं देव नित्य मुँह की खाता है।

ईश्वर उत्सव में अधिक प्यारा लगता है। हम बच्चों को लगता था। एक तो रामनवमी, कृष्णजन्माष्टमी अथवा महाशिवरात्रि के निमित्त छुट्टी मिलती थी, दूसरे मेले-ठेले में जाने को मिलता था। उस दिन ईश्वर जैसे कहता है हंसो-नाचो-कूदो। इस मामले में होली का त्यौहार सबसे ज्यादा मन को भाता था।...ये उत्सव अब रूटीन बन गये हैं, गणेश उत्सव भी। ये सुंदर हों, कलात्मक भी पर आत्मा को नहीं छू पाते। वह स्पंदन नहीं उपजा पाते जो आनंदानुभूति की झंकार बने।

भाईसाहब के साथ कभी मैं मेला-मैदान के हनुमान मंदिर को भी जाता, विशेषतः संध्या को। यह स्थान बस्ती के बाहर था और मंदिर के इर्दगिर्द पेड़ थे सो यह मन को मोह लेता था। मंदिर के सामने की खुली जगह में एकाध साधु अपना डेरा डाले रहता था धुनी की आग चेताये हुए। गांव के दो-चार लोग उसे घेरे रहते थे। हम बच्चों के लिए विशेष बात यह कि यहां एक बड़ा मोर भी होता था। मंदिर के पीछे बाडियां थीं जिनमें शाक-सब्जी पैदा होती थी।

मंदिर छोटा था, लेकिन हमें खूब प्यारा लगता था। जिसे सौंदर्यबोध कहते हैं, उसकी अनुभूति मुझे यहां होती थी। एक तो संध्या-बेला में ही सौंदर्य भरा हुआ है, मानस में हलके-हलके कदम रखने वाला निर्वेद भाव जो अपने मौन में से हमें कहता है, रुको। कुछ पल हम कहीं एकान्त में बैठें। उस अस्त हो गये सूरज को देखें। हां, अस्त हो गये सूरज को। बहुत-कुछ कह रहा है वह विश्व के बारे में। यह अंधेरा नहीं उतर रहा है, यह कोई रहस्य है जिसमें जीवन का सत्य छिपा हुआ है।

कहना न होगा कि निर्वेद भाव की यह आवाज मैंने बचपन में नहीं सुनी थी, आगे 1981-82 में कुंभराज गया था तब सुनी थी। मुझे यह देखकर अच्छा लगा था कि हनुमान मंदिर का पूर्व का एकान्त कायम था। मंदिर की इमारत पहले से अच्छी बन गयी थी।

मैं कविता के बिम्बों में उतरता हूं और कविता की अनुभूति से अभिभूत होता हूं। उसी तरह क्या हम ईश्वर के बिम्बों में उतरते हैं कि उसकी अनुभूति से ओतप्रोत हो उठें?

नहीं होता ऐसा, नहीं होता। हम बिम्बों में ही अटके रह जाते हैं। मंदिर और मूर्ति की भव्यता में ही। और मंदिर और मूर्ति को हमने इतना भव्य बना दिया है कि ईश्वर की दिव्यता उसमें दब गयी है।

‘दी पॉवर करप्स दी मैन’ कहा गया है, उसी तर्ज पर मैं कहना चाहता हूं कि ‘दी टॉवर करप्स दी गॉड।’ कहना न होगा कि टॉवर यहां भव्यता के लिए प्रयुक्त हुआ है।

कच्चे चौथरे वाले कमरजी मुझे पक्के ऊंचे मंदिर वाले तिरुपति से कहीं अधिक आकर्षित करते हैं। बरसात में कमरजी का चौथरा मेरे मकान के सामने के चबूतरों की तरह ढह जाता था। आज मैं सोचता हूं आदमी के सुख-दुख के साथ भगवान का सुख-दुख जुड़ा हुआ था।

हमने ईश्वर को सम्पन्न बनाया और ईश्वर का हेतु ही सम्पन्न हो गया पूर्ण भी, समाप्त भी। सम्पन्नता को सम्पन्न हो जाने का ही शाप है। क्या ईश्वर अपने आपमें सम्पन्न नहीं है जिसे और सम्पन्न बनाते हैं हम!

एक बैरागी की बात याद आ रही है। बैरागी मंदिर के बाहर चबूतरे पर बैठा था। शायद पानी पीकर सुस्ता रहा था। मैं भी सुस्ताने के लिए ही चबूतरे पर जा बैठा, घूमने के क्रम में काफी चल लेने के बाद। मेरे बैठ जाने के कुछ ही क्षणों बाद बैरागी बोला, बीच-बीच में अंधेरा-सा छा जाता है, दिमाग में, नहीं?

यह तो आज के आदमी की आम बात है, यह बैरागी मुझसे कुछ झटकना चाहता है, सो ऐसी बात कर रहा है। मैंने सोचा।

मुझे मौन देख बैरागी ने आगे कहा, तुममें अंधेरा बाहर की चकाचौंध से छाता है।

इस बार उसकी बात सुन मुझे जैसे झटका लगा, कितना सही निदान था उसका। तथापि मेरा अहं उसे दाद न दे सका। कभी-कभी अंधेरे में तीर निशाने पर लग जाती है।

तुम्हारे मस्तिष्क में अंधेरा तब छा जाता है जब तुम स्वतंत्रता, न्याय, धर्म जैसी धुरीण बातों को कमजोर होता या इन पर आघात होता पाते हो।

मुझे लगा इसने मेरी उंगली पकड़ ली है और शीघ्र ही पोचा पकड़ लेगा, और ऐसा ही हुआ जब आगे वह बोला, तुम्हें स्वर्ग-नरक, भाग्य-कर्म, यज्ञ-तीरथ, मठ-आश्रम जैसी बातें थोथी लगती हैं।

मैं अब उसके करीब सरका। उसके चेहरे को देखा। शाम के धुंधलके में वह एक नक्षत्र की तरह चमक रहा था।

यह विज्ञान-युग है, सो जरा-से दिमाग वाला आदमी भी ऐसा ही सोचता है। तो क्या गलत सोचता है? मैं कह उठा।

पता नहीं एटम बम बनानेवाला आदमी गलत सोचता है या सही सोचता है। मुझे यह बात सुनकर लगा इस बैरागी ने जैसे गोली दाग दी हो यों ही आकाश में।

स्वर्ग-नरक, यज्ञ-तीरथ थोथी बातें हैं, तो सही बात तो एटम बम है, नहीं?

इस सवाल ने मुझे जैसे अपराधी के कटघरे में खड़ा कर दिया।

वही आगे बोला, मैं मानता हूं स्वर्ग-नरक, भाग्य-कर्म गलत हैं, उसी तरह गलत है एटम बम भी। पर स्वर्ग-नरक, भाग्य-कर्म इतने खतरनाक गलत नहीं जितना एटम बम है। तुम सुन रहे हो न मेरी बात?

हां, हां, सुन रहा हूं। मैंने कहा। वह अपनी एक-एक बात से मुझे जैसे कील रहा था।

एटम बम हमारे चरम ज्ञान की देन है। और ईश्वर भी चरम ज्ञान की देन है। है या नहीं?

तुम ठीक कह रहे हो। मैंने कहा।

दोनों चरम ज्ञान की देन तो इसका यह मतलब हुआ एटम बम और ईश्वर दोनों सगे भाई हैं।

नहीं नहीं। मुझे मेरी गलती का अहसास हुआ। मैंने कहा, ईश्वर ज्ञान की नहीं, अज्ञान की देन है।

ठीक है, तुम कहते हो वही सही कि ईश्वर अज्ञान की देन है। अब इससे तो तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञान की देन बड़ी ध्वंसकारी है, जबकि अज्ञान की ऐसी नहीं। वह जैसा कि तुम कहते हो थोथी है। पर थोथी निरर्थक हो, ध्वंसकारी तो नहीं।

थोथी देन में सत्य-शिव-सौंदर्य की बात कैसी? ज्ञान-भक्ति-कर्म की बात कैसी? कला-न्याय करुणा की बात कैसी? तुम्हारा एटम बम इन सबकी बात करता है?

वह बोले जा रहा था, मैं मंत्रमुग्ध सुन रहा था।

माना कि ईश्वर कल्पना है, पर कितनी उदात्त कल्पना। यह भूतदया की बात करती है। यह सौंदर्य की बात करती है। और-तो-और स्वयं कल्पना होकर सत्य की बात करती है। राम कल्पना है, कृष्ण कल्पना है और ये कल्पनाएं जीवन के कैसे समग्र सत्य हैं।

कल्पना न होती तो हमारा जीवन कितना रंगहीन होता। मोर सुन्दर है, कमल सुन्दर है, चांद सुन्दर है, पर जब इन पर कल्पना का रंग चढ़ जाता है, कला का रंग तो ये और सुन्दर बन जाते हैं, कला ने तो बल्कि पत्थर के पहाड़ को भी सुन्दर बना दिया है। उसे पूज्य बना दिया है।

कल्पना कला के माध्यम से कर्म को सौंदर्य प्रदान करती है और सुन्दर कर्म ही सत्य है।

और सत्य ही होना सब-कुछ नहीं है...वह शिव भी होना चाहिए तभी सुन्दर कर्म सुन्दर है।

इसी शिव को तो ज्ञानियों ने ईश्वर कहा, जिसे हम अज्ञानी अज्ञान की देन कहते हैं जिसे थोथी कल्पना कहते हैं।

इस शिव के प्रति लगन ही भक्ति है।

ज्ञान-भक्ति कर्म बल्कि कहें कि सत्य-शिव-सौंदर्य का संतुलन ही हमारा सही जीवन है। और इस संतुलन का प्रतीक है ईश्वर।

ईश्वर को छोड़ और कैसे प्रतीक बनायें? क्या राजा को जो सत्य नहीं है, सेठ को जो शिव नहीं है, ज्ञानी को जो सुन्दर नहीं है?

घोषणा हुई कि ईश्वर मर गया है।

हां, मर गया है महलों में जहां सत्य-शिव को छोड़ सौंदर्य ही सब-कुछ बन गया है। कारखानों में जहां मजदूर-उपभोक्ता को छोड़ यंत्र ही सब-कुछ बन गया है। कलाओं में जहां भाव-कल्पना को छोड़ विचार ही सब-कुछ बन गया है। ज्ञान में जहां आकाश-जल तत्त्व को छोड़ मिट्टी तत्त्व ही सब-कुछ बन गया है।

अब अंधेरा छा गया था, लेकिन मैं जैसे चांदनी में नहा रहा था।

वह बोलता जा रहा था, ईश्वर मर गया है क्योंकि पैसा-सत्ता-नाम ही जीवन का लक्ष्य बन गया है। ईश्वर मर गया है क्योंकि सत-रज-तम में तम प्रबल बन गया है।

कहा गया ईश्वर अफीम है। क्या फिल्म और क्रिकेट अफीम नहीं हैं? जीवनमूल्य-विहीन अफीम।

युगचित्र बड़ा विदारक हो चला है। मैंने कहा।

हां, विदारक। इतना कह बैरागी कुछ क्षण मौन रहा और फिर बोला, चिंतक, कवि, साधु कितने ऊंचे जो राजा को नहीं जानते।

जान लेने पर कि यह राजा है चिंतक, कवि, साधु उसके साथ नाव में नहीं बैठे। राजा अकेला नाव में गया तो आकाश से इन तीनों पर पुष्पवृष्टि हुई। तीनों धन्य धन्य हो उठे। यह तब हुआ जब सृष्टि ईश्वर की थी।

लेकिन अब चिंतक, कवि, साधु राजा के साथ के लिए छटपटाते हैं। उसके साथ को ही ईश्वरी पुष्पवृष्टि मानते हैं। ऐसा इसलिए कि हमने ईश्वर को काट फेंका है और उसके स्थान पर विज्ञान को अधिष्ठित किया है। सो युगचित्र विदारक।

इतना कहकर बैरागी उठ गया और कहीं अंधेरे में खो गया।

आज ठीक याद नहीं कि यह बैरागी मुझे चिंतन में मिला था, संघर्ष में या पुस्तक में। सोचता हूँ कहीं यह ईश्वर ही तो नहीं थासोच का उदात्त बिंदु। लेकिन ऐसा सोचना ही कितना अवैज्ञानिक है, नहीं?

धर्मपाल, जिन्होंने रास्ता दिखाया

रामबहादुर राय*

वह पहला अवसर था जब अपने चाहने और मानने वालों के बहुत जोर देने पर धर्मपाल जी जन्मदिन मनाने पर सहमत हो गए थे। उससे पहले उन्होंने अपना जन्मदिन मनाने की कभी जरूरत नहीं समझी थी। जिसके चौरासी साल बीत गए हों और जो अपने जीवन का मकसद पा चुका हो उस व्यक्ति के प्रति आदर जताने के लिए वह आयोजन था। जिसमें शामिल होने के लिए देशभर से लोग आये थे। 18 फरवरी 2006 का वह दिन सेवाग्राम आश्रम की एक ऐसी यादगार है जिसे कभी भुलाया नहीं जा सकता। हालाँकि उनका जन्मदिन 19 फरवरी को होता है, लेकिन सर्व सेवा संघ के अध्यक्ष अमरनाथ भाई की सुविधा से उसे एक दिन पहले मनाना तय हुआ।

सेवाग्राम की जिस कुटिया में वे रहते थे उसके बरामदे में लोग शाम को सहजभाव से जमा हुए वैसे ही जैसे किसी प्रार्थना सभा में आते हैं। धर्मपाल जी अनमने भाव से बीचोंबीच कुर्सी पर बैठे। उस आयोजन को मित्रमिलन कहा जा सकता है। वह जन्मदिन का समारोह तो कतई नहीं था। वहाँ वर्गाकार व्यवस्था में बैठे हुए अपने परिचितों के बीच वे खोए हुए से थे। मानो कुछ और सोच रहे हों। वहीं हर व्यक्ति उत्सुक था। उसके मन में धर्मपाल जी के बारे में ज्यादा जानने की इच्छा जगी हुई थी जिसे उनकी बेटी गीता धर्मपाल ने सबकी ओर से प्रकट किया। आप जानते हैं कि वे जर्मनी में प्रोफेसर हैं। बैठने की व्यवस्था अपने आप इसलिए वर्गाकार हो गई थी क्योंकि दो बरामदे में लोग बैठे हुए थे। एक में आश्रमवासी महिलाएँ थीं और दूसरे में बाहर से आए हुए ज्यादातर लोग बैठे हुए थे। महिलाओं में ही धर्मपाल जी की बेटी बैठी थी।

सर्वसेवा संघ के अध्यक्ष ने सूत की माला उन्हें पहनाकर सम्मानित किया जिसे उन्होंने खुद काता था, जैसा कि बताया। उस अवसर पर पहले धर्मपाल जी बोलें यही ज्यादातर व्यक्तियों का आग्रह था। उसमें जिज्ञासा का भाव बना हुआ था कि वे अपने

* श्री रामबहादुर राय देश के वरिष्ठतम पत्रकारों में से हैं। अभी वे “प्रथम प्रवक्ता” पाक्षिक के सम्पादक हैं।

बारे में सम्भवतः उन पहलुओं पर बोलेंगे जो मालूम नहीं हैं। उनके शोधपरक अध-ययन के बारे में जानने, सुनने और पढ़ने का अवसर लोगों को मिलता रहा है। वह पहला अवसर था जिसमें धर्मपाल जी अपने बारे में कुछ बता सकते थे। इसीलिए जब यह बात उठी कि वे पहले बोलें तो उपस्थित समूह ने अपनी सहमति जताई और इस तरह तय सा हो गया कि उनके बाद ही दूसरे लोग बोलेंगे। सबकी निगाहें धर्मपाल जी की तरफ मुड़ गईं। वे पसोपेश में पड़ गये। कोई उपाय नहीं था कि वे बोलने से बचें।

उनका रुख अमरनाथ भाई की ओर था। वे जो बोले उसका सीधा सम्बन्ध महात्मा गाँधी की आश्रम अवधारणा से था। उन्होंने सीधे वही बात रखी जिसके बारे में महीनों से वे बोल-बतिया रहे थे और लिख-पढ़कर चेतना पैदा करना चाहते थे। बिना किसी भूमिका के उन्होंने सर्वसेवा संघ के अध्यक्ष को सम्बोधित कर कहा कि ‘आश्रम के चारों तरफ सरकार जो चारदिवारी बनवा रही है उसे गिरवा दीजिए। बापू के आश्रम को जेल बनाया जा रहा है। बहाना यह कि इसे पर्यटन स्थल के रूप में विकसित करने की योजना है।’ आमतौर पर बहुत ही सहज होकर अपनी बात कहने वाले धर्मपाल जी उस दिन बोलते वक्त आक्रोश में थे। वे अपना असन्तोष दबा नहीं सके। शायद वे इसका प्रयास भी नहीं करना चाहते थे। वे कुछ और बातों पर बोल सकते थे और सेवाग्राम आश्रम पर चुप रह जाते। मान लीजिए ऐसा वे करते तो फिर खुद को अभिव्यक्त करने से बचते जो उनका स्वभाव नहीं था।

उस सादे आयोजन में उनके बारे में अनेक व्यक्ति बोले, जिससे उनके व्यक्तित्व पर रोशनी पड़ती है। उन्हें समझने में उससे सहायता मिल सकती है। जब वह आयोजन खत्म हुआ और ज्यादातर लोग चले गये उस समय मैंने उनसे पूछा कि पिछले दिनों जब आप अस्पताल में दाखिल हुए तो हुआ क्या था? उन्होंने धीरे से कहा कि आपको सही बात मैं बताऊँगा। सेवाग्राम आश्रम में शाम का अन्धेरा पसरने लगा था। अपनी कुटिया के सामने वे एक कुर्सी पर बैठे थे जहाँ यह बात हो रही थी। मैंने अपना सवाल दोहराया। वे पहले भी मूर्च्छित हो चुके थे। उससे चारों तरफ चिन्ता थी। उनकी सेहत गिरती जा रही है। इस बार वे अस्पताल में जैसे गये उसका कारण पूरी तरह स्पष्ट नहीं था। इसीलिए उनसे ही यह जाना जा सकता था कि वास्तव में घटना क्या हुई थी? उन्होंने जो बताया उससे कारण साफ नहीं हो रहा था। अधिक कुरेदने पर उन्होंने असली बात बताई। ‘मैंने नींद की गोली अधिक मात्रा में ले ली थी।’ उनसे यह सुनना सदमे से गुजरने जैसा था। इसका एक अर्थ यह भी है कि वे नींद की गोली की ज्यादा खुराक लेकर हमेशा के लिए सो जाना चाहते थे। यानी अपनी जीवनलीला खत्म करने की उन्होंने वह तरकीब सोची थी। यही वजह थी कि वे इस बारे में कोई बात करना उस समय उचित नहीं समझते थे, जब कोई तीसरा हो।

‘मैं तो यहाँ से जा ही रहा हूँ।’ यह उनका आखिरी वाक्य था जब वे सेवाग्राम

आश्रम के सरकारीकरण से व्यथित होकर बोल रहे थे। उनके इस वाक्य के गूढ़ार्थ बातचीत के बाद प्रकट होने लगे। पहले मैं उसके शब्दार्थ में ही उलझा हुआ था। उनके बोलने पर अमरनाथ भाई ने विरोध नहीं जताया। उन्होंने कहा कि 'आपने यह प्रसंग छेड़ दिया है तो बता दें कि सर्वसेवा संघ आपसे पूरी तरह सहमत है।' मैंने उनसे कहा कि सर्व सेवा संघ के अध्यक्ष आपसे पूरी तरह सहमत हैं फिर आपको चिन्ता करने की जरूरत नहीं है। इस पर वे चुप नहीं रह सके। साफ था कि वे सर्व सेवा संघ के अध्यक्ष के आश्वासन को खोटा सिक्का से ज्यादा महत्त्व देने के लिए तैयार नहीं थे। सवाल इसका है ही नहीं कि सर्व सेवा संघ का मत क्या है? असली बात तो यह है कि सर्व सेवा संघ क्या वास्तव में महात्मा गाँधी की आश्रम अवधारणा को उसी रूप में मानता है जैसा कि धर्मपाल जी लिख-पढ़कर बता रहे थे। इस पर वे सर्व सेवा संघ के विरोध में खड़े पाए जाते थे।

‘महात्मा गाँधी ने गाँव-समाज से जुड़ने के लिए आश्रम की स्थापना की थी। वे अपने आश्रमों को सम्पूर्णता में देखते थे। जहाँ से सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक चेतना पैदा होती थी।’ बातचीत में धर्मपाल जी इसे समझाते थे। यही उनका वह पैमाना था जिसपर सेवाग्राम आश्रम को वे मापते थे। उनको इस बात की तकलीफ थी कि सेवाग्राम उन गतिविधियों से शून्य हो गया है जिससे सामाजिक, राजनीतिक चेतना पैदा होती है। क्या यह जमाने का असर है? यह पूछने पर उनका उस दिन जवाब था कि आजादी के बाद से यह गिरावट आने लगी थी। भूदान आन्दोलन से सेवाग्राम को कुछ दिनों के लिए संजीवनी मिली। लेकिन यह भी हुआ कि उस आन्दोलन में हिस्सा लेने के लिए आश्रम को कुछ दिनों तक बन्द भी कर दिया गया। उसी दौर में सेवाग्राम आश्रम का सरकारीकरण होना शुरू हुआ। सर्व सेवा संघ ने इसे अपनी उसी तरह से सहमति दी जैसे कि उसके अध्यक्ष धर्मपाल जी की बातों का समर्थन कर रहे थे। उसी दौर में धर्मपाल जी अन्ना साहब सहस्रबुद्धे से मिलने सेवाग्राम आये। वे जब वहाँ आये तो सेवाग्राम का वातावरण प्रेरक नहीं था। उन्होंने आश्रम के जीवन में जीवन्तता लाने के लिए कई प्रयास किये। इस तरह वे सेवाग्राम आश्रम के पुराने दिनों को लौटाना चाहते थे। यह तभी सम्भव था जब उन्हें पूरा सहयोग मिले। इसकी शिकायत उनके मन में नहीं थी। वे संस्था खड़ा करने वाले लोगों में थे भी नहीं। लेकिन वे अवश्य यह चाहते थे कि सेवाग्राम एक उदाहरण बने।

असल में दो तरह का नजरिया सेवाग्राम के बारे में है। एक वह है जिससे सर्व सेवा संघ संचालित होता है तो दूसरा धर्मपाल जी का अपना सोचा-समझा विचार है। ये समानान्तर धाराएँ हैं। इनमें जहाँ मेल होता है वहीं टकराव भी हो जाता है। मेल और टकराव इस बात पर रहा कि महात्मा गाँधी को आज के जमाने में किस भाँति समझें। एक तरीका है जिससे सर्व सेवा संघ महात्मा गाँधी को समझ रहा है और अपने तौर-तरीके से उनकी विरासत को सँभाल रहा है। उसके अपने हों और ना हों। सहमति

और असहमति है। जिन बातों को सर्व सेवा संघ एक संस्था के रूप में सही नहीं समझता उसे धर्मपाल जी भी परहेज करें यह उनसे उम्मीद की जाती थी। यहाँ टकराव हो जाता था। महात्मा गाँधी के विचारों की प्रतिनिधि संस्था सर्व सेवा संघ को माना जाता है। वह अपने बलशाली दिनों (नैतिक अर्थों में) में अनुशासन की बजाय आत्मानुशासन पर जोर देता रहा है। क्षीणकाय होने के बाद वह अपने ही एक राजनीतिक दार्शनिक को अनुशासित करने की कुचेष्टा में लग गया। सर्व सेवा संघ को इस पर एतराज था कि उनसे वे लोग भी मिलते हैं जिन्हें वह काली सूची में डाल चुका है। इसके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। ऐसी ही एक घटना 2001 में हुई जब सर्व सेवा संघ के कर्ता-धर्ता इशारे से कहने लगे कि सेवाग्राम आश्रम में धर्मपाल जी नहीं रह सकते।

उस समय सर्व सेवा संघ को अपना फैसला बदलना पड़ा। उसे यह भी मानना पड़ा कि धर्मपाल जी पर किसी तरह का प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता। तब यह बात धर्मपाल जी से मैंने पूछी थी कि आप सेवाग्राम में क्यों रहना चाहते हैं। उन्होंने साफ शब्दों में कहा था कि 'वहाँ रहने से मुझे गाँधी को समझने और उनके रास्ते पर चलने की प्रेरणा मिलती है।' उनके लिए गाँधी व्यक्ति नहीं, विचार थे। उस विचार को आत्मसात करने में ही उन्होंने अपना जीवन लगाया। खोजते-खोजते उन्होंने जिस गाँधी को पाया उसमें नवीनता थी और था भारत के भविष्य का एक खाका। वह भारत की पुनर्चना का ब्लूप्रिण्ट था। अंग्रेजों ने अपने शासन के दो सौ सालों में हमारी समाज व्यवस्था को जिस तरह तहस-नहस कर दिया था उससे निकलने का रास्ता उस ब्लूप्रिण्ट में है। देश को कैसे फिर से बनाया जाए इसी गुथी को वे जीवनभर सुलझाते रहे। आजाद भारत में जेपी, विनोबा के बाद जिस व्यक्ति ने सबसे अधिक अपनी ओर गैर गाँधी वालों को खींचा वे धर्मपाल जी थे। यानि उन्होंने गाँधी को अधिक सुगम बनाया। नई पीढ़ी को समझाया कि मौजूदा नेतृत्व चाहे जिस पार्टी का भी हो वह सच्चे अर्थों में भारतीय नहीं है। राजनीतिक दलों का नेतृत्व क्यों बार-बार विफल हो जा रहा है? क्यों जेपी की सम्पूर्ण क्रान्ति नारे से अधिक असर नहीं डाल सकी? क्यों जनता पार्टी के सत्ता में आने के बावजूद सार्थक बदलाव के सपने पूरे नहीं हुए? क्यों विश्वनाथ प्रताप सिंह के नेतृत्व में बनी राष्ट्रीय मोर्चा की सरकार लोगों की उम्मीदों पर खरा नहीं उतरी? इन सारे सवालों का जवाब धर्मपाल जी से बातचीत करते हुए मिल जाता था। सूत्र रूप में कहें तो वह यह था कि आजादी के बाद देश में अपनी व्यवस्था बनाने की कोशिश शुरू ही नहीं हुई। यह दिमागी दिवालियापन के कारण था या इस कारण कि हमारे नेतृत्व का आदर्श पश्चिमी ढाँचा था। इस फर्क को समझाकर उन्होंने नई पीढ़ी को गाँधी से जोड़ा। इस बात के लिए सर्व सेवा संघ में उनका सम्मान अपने आप बढ़ जाना चाहिए था। लेकिन, ऐसा हुआ नहीं। उन्हें सर्व सेवा संघ की कार्यसमिति में इस बात के लिए कोसा गया कि वे गाँधी विचार के विरोधियों को

प्रतिष्ठा दिला रहे हैं। उन पर आरोप लगा कि वे नव हिन्दुत्व को बढ़ावा दे रहे हैं। इसलिए उन्हें सेवाग्राम आश्रम में नहीं रहना चाहिए। हुआ यह था कि उन दिनों धर्मपाल जी ने एक सुझाव दे दिया था कि सर्व सेवा संघ और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ में संवाद होना चाहिए। यह सुझाव उन्होंने नागपुर में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के मंच से दे दिया था। यही उनका बड़ा गुनाह बन गया।

इसकी उन्होंने परवाह नहीं की। वे अपने रास्ते पर चलते रहे। संवाद ऐसी प्रक्रिया है जो लोकतंत्र में चलती रहनी चाहिए। उससे परस्पर विचारों का आदान-प्रदान होता है। इसी उद्देश्य से वे संवाद पर हमेशा बल देते रहे। उनके साथ जो नए युवक जुड़ते रहे वे संवाद से ही नजदीक आते गये थे। उनमें संवाद की वह कला थी जिससे बदलाव की प्रक्रिया शुरू हो जाती थी। ऐसे अनगिनत लोगों को उन्होंने यह समझाया कि जो देश बन रहा है वह पश्चिम की नकल है। मुझे एक घटना याद है। 1992 के शुरुआती दिनों में वे गाँधी शान्ति प्रतिष्ठान में ठहरे हुए थे। एक मित्र का फोन आया कि धर्मपाल जी बात करना चाहते हैं। हम उनसे मिलने गए। वे चाहते थे कि राष्ट्रीय स्तर का एक अन्तर विचारधारात्मक संवाद हो, जिसमें ज्यादा लोग न हों, 40-50 प्रतिनिधि रहें। उनसे बातचीत में जैसा हमने समझा वैसा संवाद बुलाने के प्रयास शुरू हुए। जैसे-जैसे प्रगति हुई यह अनुभव आया कि विभिन्न विचारधाराओं से जुड़े लोगों को यह विचार पसन्द आया है। उनका सहयोग मिलने लगा। कई महीने के प्रयास से यह अन्दाज हो गया कि संवाद में रुचि बढ़ रही है। जब संवाद की तारीख नजदीक आ रही थी उन्हीं दिनों छह दिसम्बर की वह घटना हो गई जिसमें बाबरी मस्जिद गिरा दी गई। हालाँकि संवाद का निर्णय महीनों पहले हुआ था और उसकी तारीख भी तय थी इसके बावजूद उस संवाद पर छह दिसम्बर छाया रहा। फिर भी वह संवाद कई दिनों तक वृन्दावन में चला। हमारे लिए यह नया अनुभव था कि उसमें धर्मपाल जी नहीं आए जबकि उनके सुझाव पर ही वह रखा गया था। भले ही वे नहीं आए, लेकिन उन्होंने संवाद का सिलसिला चलाने की प्रेरणा दी। वे क्यों नहीं आए यह उनसे जानने-समझने की जितनी भी कोशिश कर सकता था, वह किया। उस घटना से मैंने यह समझा कि उनके मन की थाह नहीं ली जा सकती। जो विलक्षण हो उसे समझना उतना आसान नहीं होता जितना अक्सर मान लिया जाता है। एक घटना से उनको पूरी तरह समझा भी नहीं जा सकता। ऐसा लगता है कि छह दिसम्बर की आहट उनको मिल गई थी। तभी वे संवाद पर जोर दे रहे थे। उस घटना के बाद उन्हें उसकी व्यर्थता ख्याल में आई होगी। इसलिए वे वहाँ नहीं आए। छह दिसम्बर को जिस रूप में उन्होंने देखा और दिखाया उससे उनके कूपमण्डूक साथियों को नागवार गुजरा।

कई बार एक प्रश्न परेशान करता है कि जो काम एक व्यक्ति के रूप में धर्मपाल जी कर सके वही बड़ी संस्थाएँ क्यों नहीं कर पाती हैं। उनके जीवन के आखिरी आठ-दस सालों में इस तरह के अनेक प्रसंग खड़े हुए। इसी दौरान उनके

शोध की एक दिशा स्पष्ट हुई। जरूरत यह थी कि उनपर संगठित कामकाज शुरू हो। यह जब स्पष्ट हो गया कि आजादी के समय नेतृत्व ने गलती की और जो उसका दायित्व था उसे नहीं निभाया। इस अनुभव के बाद भारतीय पद्धति पर समाज बनाने का प्रयोग नए उत्साह से शुरू होना चाहिए था। उसका ही अगला चरण अपने अनुरूप शासन-प्रशासन बनाने का हो सकता था। इसपर असहमति की गुंजाइश कम होनी चाहिए। जो गाँधी को मानते हैं उनमें इसपर नया उत्साह पैदा होना चाहिए था। धर्मपाल जी इसी सन्दर्भ में आश्रम व्यवस्था को देखते थे। जब उन्हें यह लगने लगा कि गाँधी को समझने के लिए आश्रम व्यवस्था को अधिक सजीव बनाने में दिलचस्पी कम हो रही है तो उनमें एक तरह का निराशाभाव आया। अपने जीवन के अन्तिम चरण में एक दिन उन्होंने मुझेसे कहा कि 'पढ़ नहीं सकता। अब नया शोध सम्भव नहीं है। जो खोजा है उसे कोई बढ़ाने वाला नहीं है।' इस तरह उनकी पीड़ा आखिरी दिनों में प्रकट होती थी। उन्हें सुनने के बाद महसूस होता था कि वे अपने जीवन में एक हेतु के प्रति समर्पित थे। जो कुछ वे खुद कर सकते थे उतना किया। इस रूप में उन्हें अपने जीवन का कार्य पूरा हो गया लगता था। लेकिन वे कुछ साल और अपने शरीर को चला सकते थे अगर उनके लिए शोध को आन्दोलन का रूप देने के लिए संस्थाएँ सामने आतीं। ऐसा नहीं है कि वे मात्र सर्व सेवा संघ से निराश हुए हों। उनकी निराशा उन सभी संगठित जमातों से होने लगी थी जो समाज के कार्य के लिए समर्पित होने का दावा करते हैं।

धर्मपाल जी इसी दीन-दुनिया के ऋषि थे। इसे यूँ भी कहा जा सकता है कि वे दो लोक में हमेशा विचरण करते थे, मनोरंजन के लिए नहीं, उसे बदलने के लिए और बेहतर बनाने के लिए। यह लोक, वह लोक। उनका मन रमता थाजनलोक में। इसी मायने में वे अलौकिक थे। जब एक दिन पूरे देश को चौंकाते हुए सुप्रीम कोर्ट ने गोरक्षा पर एक फैसला सुनाया जिसे मीडिया ने ऐतिहासिक माना उस दिन वे दिल्ली में थे। यह संयोग ही था। उनसे इण्डिया इण्टरनेशनल सेक्टर में 30 अक्टूबर 2005 को जो बातचीत हुई वह हमेशा की तरह नई समझ देने वाली थी। उन्होंने कहा कि सुप्रीम कोर्ट ने जो आदेश दिया है वह छोटी चीज है। जिसे वे ज्यादा महत्वपूर्ण मानते थे उसकी चर्चा करने से पहले यह जान लेना जरूरी है कि सुप्रीम कोर्ट के फैसले का मतलब क्या था?

गुजरात में गोवंश की हत्या पर रोक लगी हुई है। उसे वहाँ के हाईकोर्ट में चुनौती दी गई और हाईकोर्ट ने अपने फैसले में कहा कि पूरी तरह रोक नहीं लगाई जा सकती। यह मामला सुप्रीम कोर्ट में आया और सुप्रीम कोर्ट ने गुजरात के कानून को जायज ठहराया। इस सिलसिले में उनसे बात हो रही थी। उन्होंने कहा कि 'अधिक महत्वपूर्ण यह है कि देश और भारतीय सभ्यता में जो चीज ऊँची है उसे मानने में और बरतने में कोई रुकावट नहीं होनी चाहिए। गाय और गोवंश का प्रश्न

ऐसा ही है।’

वे साफ-साफ कहते थे कि ‘मौजूदा शासन प्रणाली बदलनी होगी। तभी गाँव और गोवंश की रक्षा हो पाएगी। उनके हिसाब से जो लोग सत्ता में हैं वे बर्बर हैं। वे कहते थे कि गाय हमारे लिए अर्थशास्त्र का प्रश्न नहीं है। हमारे लिए वह काबा का पत्थर है। कुछ चीजें ऐसी होती हैं जिनपर बहस नहीं हो सकती। गाय का प्रश्न भी ऐसा ही है।’ उस दिन पूरी बातचीत गाय पर केन्द्रित थी। वे ही बोल रहे थे, मैंने सिर्फ प्रसंग छेड़ दिया था। उन्होंने कहा कि ‘हम अब तक तय नहीं कर पाए हैं कि हमारे लिए क्या चीज ऊँची है। साधारण लोग जिसे जल्दी समझ लेते हैं उतना भी हमारा शासक वर्ग नहीं समझ पाता। ऐसे शासक वर्ग को हटा दिया जाता है। हमने ऐसा नहीं किया। यही कमी है।’ गाय के सवाल पर वे एक जगह महात्मा गाँधी को गलत ठहराने में जरा भी नहीं हिचके। मरी हुई गाय का चमड़ा इस्तेमाल कर सकते हैं। यह महात्मा गाँधी ने कभी कहा था। इसे धर्मपाल जी मानने के लिए तैयार नहीं थे। उनका तर्क था कि क्या अपनी माँ का चमड़ा निकाला जाता है। यही धर्मपाल जी की वह विशेषता है जिसके कारण वे किसी पंथ से परे हो जाते हैं। गाँधी उनके लिए विचारधारा थे, जिसे वे थोड़ी दूरी बनाकर देखते और समझते थे। गाँधी वालों को यही खटकता था।

जो बात गाँधी वालों को खटकती थी वही संघ यानी राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ को कैसे पसन्द आती? इसकी परीक्षा गोपशु आयोग के दौरान हो गई। गोवंश की रक्षा धर्मपाल जी के जीवन दर्शन में बहुत ऊँचे स्थान पर थी। कांची कामकोटि पीठ के शंकराचार्य जयेन्द्र सरस्वती के दबाव में अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार ने गोपशु आयोग बनाया। उस किस्से का वर्णन गैरजरूरी है। इतना ही प्रासंगिक है कि शंकराचार्य ने ही धर्मपाल जी का नाम उस आयोग के अध्यक्ष पद के लिए सुझाया था। वे चाहते थे कि धर्मपाल जी इस काम को सँभालें। उन्हें एस. गुरुमूर्ति ने धर्मपाल जी के कामकाज के बारे में बताया हुआ था। खासतौर पर यह कि गोवंश की रक्षा के आन्दोलनों का जितना सम्यक और सम्पूर्ण अध्ययन धर्मपाल जी ने किया है उतना दूसरा कोई नहीं कर सका है। यही कारण था कि जयेन्द्र सरस्वती ने उन्हें मनाया और धर्मपाल जी ने हाँ कर दी। वे क्या जानते थे कि सरकार चाहे जिसकी हो उसे चलाते वे अफसर हैं जिनकी ट्रेनिंग का पक्का बन्दोबस्त अंग्रेज कर गए हैं। बड़े इरादे से वे गोपशु आयोग को सँभालने गये। लेकिन, उन्होंने जल्दी ही आयोग की सीमाएँ पहचान लीं। जिस तरह आयोग का गठन किया गया वह यह बताने के लिए काफी था कि सरकार की उसके कामकाज में ज्यादा दिलचस्पी नहीं है। आयोग का गठन टरकाऊ था। उसमें कोई गम्भीरता नहीं थी। अगर सरकार सचमुच गोवंश की रक्षा के लिए ईमानदार होती तो उसके लिए वह पूर्णकालिक आयोग बनाती। जैसे ही ये बातें उनके ख्याल में आई उन्होंने गुमानमल लोढ़ा को एक लम्बा पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने अपने विचार रख दिए और आयोग के कामकाज से नाता तोड़ लिया। गुमानमल लोढ़ा

आयोग के उपाध्यक्ष थे।

यह इस देश की बड़ी विडम्बना है कि महात्मा गाँधी, विनोबा, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के अलावा संविधान सभा, आजाद भारत की सरकारें भी गोवंश की रक्षा का सार्थक उपाय नहीं कर सकीं जबकि आजादी की लड़ाई के एजेण्डे में यह भी था। इसके बारे में चले आन्दोलनों की ताजा याद 7 नवम्बर 1966 की है। जिस दिन इन्दिरा गाँधी की सरकार ने गोवंश की रक्षा के लिए आए सत्याग्रहियों पर संसद के चारों तरफ बहुत जुल्म ढाया था। उस आन्दोलन का नेतृत्व संत प्रभुदत्त ब्रह्मचारी कर रहे थे। उसके बाद भी गोवंश की रक्षा के लिए आवाजें उठती रहीं, पर कोई आन्दोलन खड़ा नहीं हो सका। आठवें दशक में विनोबा ने इसके लिए जान की बाजी लगा देने का इरादा बनाया था। उसी तरह जैसे राजग के शासन में जयेन्द्र सरस्वती ने आमरण अनशन पर जाने का अपना निर्णय सुनाकर अटल बिहारी वाजपेयी की नींद हराम कर दी थी। इस विवरण से यह बात समझी जा सकती है कि गोवंश की रक्षा का सवाल पुराना है और हमारी आजादी की लड़ाई से इसका गहरा नाता है। चलते-चलाते यह याद दिलाना जरूरी है कि धर्मपाल जी ने ही दो बातें लोगों के मन-मस्तिष्क में बैठाई। पहली यह कि अंग्रेजों के जमाने में करीब 80 साल तक गोवंश की रक्षा का आन्दोलन चलता रहा। दूसरी बात इससे भी महत्वपूर्ण है कि गोवध अंग्रेजों के जमाने में ही बड़े पैमाने पर इसलिए शुरू हुआ क्योंकि उनकी सेना के लिए मांस की जरूरत थी।

जैसे ही गोवंश रक्षा के मंच पर धर्मपाल जी आये मानो सगर के पुत्रों को नया जीवन मिल गया। वे उन्हीं की तरह अपना जीवन हेतु पहचानने लगे। अगर इसे वाजपेयी सरकार, विश्व हिन्दू परिषद और इनके नियन्ता संघ ने धर्मपाल जी को काम करने की पूरी छूट दी होती तो कम-से-कम इतना तो हो ही सकता था कि एक ऐसी रिपोर्ट बन जाती जो उनके चले जाने के बाद सालों तक रास्ता दिखाती रहती। लोगों को प्रेरित करती। जब वे आयोग छोड़ने जा रहे थे उस समय उनका डेरा होता थाकर्नाटक भवन। वे खेलगाँव के उस इमारत में इतने असहज हो गये थे कि तमाम बन्धनों को तोड़कर वे मुक्तभाव से सेवाग्राम के आकाश को हर क्षण याद करते रहते थे। उन्होंने दिसम्बर 7, 2001 को जो पत्र भेजा उसकी एक प्रति भरोसे में मुझे दी। उसके कुछ दिन पहले जब वे चिट्ठी बना रहे थे उनकी चिन्तन प्रक्रिया को उन सब लोगों ने नजदीक से देखा होगा जो उनसे मिले। उसी दौरान बातचीत में उन्होंने जो कहा वह मैंने अपनी नोटबुक में जितना सम्भव था उतना उतारा। ‘गोवध पर पूरी तरह पाबन्दी के लिए बहुत प्रयत्न की जरूरत है। यह काम कृषि, पशुपालन, गाँव और खेती की पुनर्व्यवस्था किए बगैर नहीं हो सकता। इस काम में सोच-विचार की जरूरत है। वक्त लग सकता है, लेकिन मांस का निर्यात तो फौरन बन्द किया जा सकता है। इसके लिए एक सरकारी आदेश काफी है अगर सरकार हीला-हवाली करे तो बड़ा

जनआन्दोलन चलाकर उसे मजबूर किया जा सकता है। रोज जीव हत्या करके हम मांस का निर्यात करते रहे हैं। यह हमारी सभ्यता के लिए कलंक की बात है।'

वे गोरक्षा को बुनियादी सवाल मानते थे। इसी नजरिये से वे अपने काम को भी देखना पसन्द करते थे। मैं उनसे कहना चाहता था और कहा भी कि आप आयोग को छोड़िए मत। इस आग्रह में जो भावना काम कर रही थी उसे पारखी धर्मपाल ने तत्क्षण भाँप लिया। वे बोले कि 'ऐसे काम आयोगों की जाँच-पड़ताल से नहीं हुआ करते। आयोग एक मामूली जरिया है। उसकी रिपोर्ट से चेतना जगाई जा सकती है। एक जनआन्दोलन चलाया जा सकता है।' उन्होंने यह सूचना दी जो मेरे लिए नई थी कि शंकराचार्य जयेन्द्र सरस्वती ने देशव्यापी बहस छेड़ने के लिए कुछ उपयोगी सुझाव प्रधानमन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी तक पहुँचाया है। वे इसे अकेला सवाल नहीं मानते थे। उनकी व्यापक दृष्टि में अनेक प्रश्न हैं जिनपर विचार होना चाहिए। कृषि में 200 साल पहले जैसी उपज थी और खेतिहर जैसे खुशहाल थे उसे वापस लाए बगैर गोवंश की रक्षा के लक्ष्य को नहीं पाया जा सकता। वे खेती की नई व्यवस्था में गोवंश की रक्षा देखते थे। उन्होंने ही गोरक्षा के प्रश्न को सही मायने में राष्ट्रीय प्रश्न बनाया। वे जो कुछ लिख-पढ़ और बता गये हैं वह भारत के लिए अपना राजनीतिक दर्शन है।

डायरी के पृष्ठों से

गोवारीकर का 'स्वदेश' और आधुनिक भारत की स्वाधीन मुक्ति-चेष्टाएँ

रमेशचंद्र शाह*

भोपाल, 24 दिसम्बर, 2004

मुझे डर है कहीं गोवारीकर की यह दूसरी फिल्म 'स्वदेश' बॉक्स आफिस पर ढेर न हो जाय। अतः यूँ तो 'लगान' भी जब मैं दुबारा देखने गया तो हाल खाली पड़ा था। तो भी वह फिल्म 'बॉक्स आफिस फेल्योर' तो उस तरह नहीं हुई थी। जहाँ भी मैं जाता था, कोई न कोई उत्साहपूर्वक उसकी चर्चा करने वाला मिल जाता था। मनोरंजक तत्त्व उसमें ज्यादा थे, रोमांस भी था और नायक-खलनायक वाले दौंव-पेंच भी। उसकी तुलना में 'स्वदेश' कुछ ज्यादा ही सपाट है अपनी सीरियसनेस में। उतार-चढ़ाव नहीं हैं उसमें वैसे। तो भी, मुझे तो यह 'लगान' से कम मार्मिक नहीं लगी। निश्चय ही, इसकी संदेशात्मकता उपदेशात्मकता के बहुत करीब चली गई है। मगर आज की वस्तुस्थिति को देखते हुए क्या यह जोखिम उठाना अनिवार्य नहीं जान पड़ता? और, क्या इसी बात के लिए फिल्मकार का साहस भी सराहनीय नहीं लग उठता? मुझ पर तो यही छाप पड़ी। गाने भी इस फिल्म के उसकी कथा और संदेश को बहुत ही पुरजोर ढंग से दर्शकों के चित्त में बिठा देने वाले लगे। मेरी समझ से यह साफ-दोटूकपन और सरलता ही इसकी शक्ति है। आज के वैश्वीकृत, होड़-भरे समय में 'स्वदेश' की चिन्ता को, देशभक्ति की भावना को भी, फिल्म की विषय-वस्तु बनाना बड़े कलेजे का काम है। इंग्लैंड या फ्रांस, यहाँ तक कि अमेरिका में भी यह विषय कला या साहित्य के लिए कदापि प्रासंगिक नहीं हो सकता। पर उसकी वजह यह है कि, देश की चिन्ता या देशप्रेम वहाँ ध्यानाकर्षण की वस्तु कभी नहीं रही। उसे तो मानकर ही चला जाता है। अंग्रेज या फ्रांसीसी के देश-प्रेम पर शक नहीं किया जा सकता। पर, भारत में उसकी उस तरह की स्वदेश चिन्ता की अनुपस्थिति ही नहीं, सरासर अवहेलना भी एक तथ्य है; कोई माने न माने, यह एक कड़वी हकीकत है।

* प्रो. रमेशचन्द्र शाह, हिन्दी तथा अंग्रेजी के विद्वान, लेखक समीक्षक हैं। पता : M4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल-462003

अपने लोगों की सुप्त अन्तःशक्ति और मूर्च्छित आत्मविश्वास को जगाकर परदेसी हुकूमत के आतंक को मिटाने की दुश्मन को उसी के मैदान में, उसी के अस्त्रों से पराजित करने की भावना और संभावना ही 'लगान' फिल्म की प्रेरणा थी। 'स्वदेश' के पीछे भी कुछ वैसी ही भावना की तड़प और बौद्धिक जिम्मेदारी का अहसास सक्रिय दिखता है। राजनीतिक रूप से हम आजाद भले ही हो गए हों, आचरण हमारा मनसा पराधीनों जैसा ही है। पहले अंग्रेज हमें अपना उपनिवेश बनाए हुए थे, तो अब हम अपने ही देश को अपना उपनिवेश बनाके उसमें रह रहे हैं। हमारे शिक्षित और सुयोग्य युवा स्वदेश में अपना कोई भविष्य नहीं देखते। यहाँ वे अपनी क्षमता के अनुरूप योगदान भी नहीं करते; विदेश उन्हें लुभाता है, क्योंकि वहाँ सुविधाएँ हैं। विदेश में वे स्वदेश की भाँति रहते हैं, अपना सर्वोत्तम योगदान करते हुए; जबकि स्वदेश उन्हें विदेश जैसा लगता है। उसके साथ वे वैसा लगाव अनुभव नहीं करते। अपने लोगों की कीमत पर पाई हुई बेहद महँगी शिक्षा का उपयोग अपने लोगों के हित में होना चाहिए बात उन्हें सूझती ही नहीं। बहिर्गमन इतना सहज और स्वाभाविक हो गया है कि पहले कभी जिस 'ब्रेन-ड्रेन' की चर्चा यदा-कदा अपने यहाँ हो जाती थी, वह अब बिल्कुल ही बन्द हो गई है। अपने यहाँ के उच्चतम कोटि के प्रौद्योगिक प्रशिक्षण संस्थान भी मानो बने ही इसलिए हैं कि बहिर्गमन के, यानी विदेशों में अपनी योग्यता का निवेश करने के अवसर मिलें। स्वदेश के ऋणशोध की बात उठाना ही यहाँ हास्यास्पद बनना है। इस मामले में सभी विचारधाराओं के लोग एकमत हैं कि देश के भविष्य का अपनी संतति के भविष्य से कोई सम्बन्ध नहीं है।

ऐसे माहौल में 'स्वदेश' फिल्म का संदेश निरा उपदेश नहीं लगेगा तो भला और क्या लगेगा? स्वदेश का नायक मोहन 'नासा' जैसी अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की संस्था में अपने उज्ज्वल और सुरक्षित भविष्य को एक झटके में तिलांजलि देकर अपने अर्जित ज्ञान का उपयोग स्वदेश के हर तरह से वंचित और अवहेलित तथा रूढ़ियों की कैद में जीने को अभिशप्त अपने ही देशवासियों की खातिर करने को प्रेरित होता है, सो क्यों और कैसे? वह जो 'साक्षात्कार' उसने कियाकावेरी अम्मा की बदौलत असली भारत का, असली गाँव काउसी के कारण न? आखिर ये गाँव के लोग अपने ही बीच के एक आदमी के प्रति इतने संवेदनशील कैसे हो गए? वह सोचने को विवश होता है। परन्तु उन्हें भी दोष देके क्या होगा? यह कैसा देश हमने बनाया है, जिसमें संस्कार और संवेदन के बीच पुल बाँधने वाली शिक्षा ही नदारद है। परम्परा के नाम पर केवल जीवन-द्रोही रूढ़ियों की जकड़न ही बची हुई है? 'लगान' गुलाम भारत की कहानी थी; 'स्वदेश' राजनैतिक गुलामी से छूट चुके किंतु अपने ही संचित 'तमस्' में घुटते रहने को छोड़ दिए गए स्वतंत्र भारत की कहानी है।

एक तरह देखा जाय तो आज के जीवन की, स्थितियों की जटिलता को देखते हुए 'स्वदेश' का आदर्शवाद और आशावाद दोनों ही बड़े पुराने और सरलीकृत लगेंगे।

फिर भी, क्या कारण है कि फिल्म हमें इस कदर छूती है, पकड़ती है, अजीब सी राहत देती है हमारी दबी-घुटी भावनाओं को? 'लगान' को देखते हुए भी मुझे अपने ऊपर शक उपजा थायह कैसी भावुकता को उकसा रहा है? 'स्वदेश' भी हमें भावुक बना देता है। पर, फिर क्या कारण है कि वह भावुकता हमें महज एक भावनात्मक राहत से कुछ अधिक, कुछ अलग लगती है? क्या सचमुच हम यथार्थ और यथार्थवाद से ऊब गए हैं, त्रस्त हो गए हैं? बहुत लम्बा खिंच गया है यह दौर तथाकथित यथार्थवाद का, और हम एक आसन्न युग-परिवर्तन की दहलीज पर हैं?

फिल्म की शुरुआत में ही जब नायक एक रास्ते में अचानक मिल गए फकीर को अपना पथप्रदर्शक बनाकर अपने 'कारवाँ' में बिठा लेता है, तब जो गाना चलता है फकीर के सड़क पर नृत्य के साथ, वह गजब का दृश्य है। एक सांकेतिक व्यंजना है उसमें आनेवाली घटना के पूर्वाभास सरीखी, जो दर्शक के चित्त पर एक अमिट प्रभाव छोड़ जाती है। गौण पात्र (जिनकी भूमिकाएँ, सकारण ही 'लगान' वाले अभिनेताओं द्वारा निभाई गई हैं) दोनों फिल्मों के बीच जो एक आन्तरिक सम्बन्ध की निरन्तरता है, उसे बहुत प्रभावी ढंग से दर्शाते हैं। पोस्टमास्टर, अखाड़े वाले, अमरीका में ढाबा खोलने का महत्त्वाकांक्षी युवक, गाँव के आदर्शवादी बूढ़े मास्टर साहब, तीनों अपनी-अपनी जगह महत्त्वपूर्ण लगते हैं। वे सब फिल्म के बुनियादी संदेश और कथ्य को धारदार बनाने के काम आते हैं कि, सबसे ज्यादा पढ़े-लिखे, तथाकथित बुद्धिजीवी ही देश और देशवासियों की इस दुर्दशा के लिए जिम्मेदार हैं। क्योंकि वे स्वदेश के प्रति अपना ऋण चुकाने की कोई बाध्यता, कोई जरूरत ही महसूस नहीं करते। किंतु, मोहनइस फिल्म का नायकयह ऋण महसूस करता है। 'ये जो देश है तुम्हारा, स्वदेश है तुम्हारा, इसने तुमको पुकारा/ये वो बंधन है जो कभी टूट नहीं सकता?...' इस गहरी गूँज वाले गाने की स्वरलिपि जितनी सरल-सपाट है, उतनी ही पूरी फिल्म के घटना-क्रम की दुर्निवार्य गति भी।

मोहन का निर्णय 'नासा' में करियर बनाने की दुर्लभ संभावनाओं को त्याग कर स्वदेश लौटने और वहीं अपने लोगों के लिए अपने को खपा देने का असंभव आदर्शवाद है; पर वह अविश्वसनीय क्यों नहीं लगता? नायक का यह हृदय-परिवर्तन, बुद्धि-परिवर्तन सरीखी छाप हम पर क्यों छोड़ता है? बेशक, फिल्म में कसावट की कमी कई जगह अखरती है, गीता की भूमिका करने वाली अभिनेत्री भी बहुत कमजोर है; कुछ प्रसंग भी जरूरत से ज्यादा लम्बे खिंच जाने के कारण उबाऊ हो गए हैं। किंतु इन सारी गड़बड़ियों के बावजूद फिल्म अपने लक्ष्य की सिद्धि में सफल ही कही जाएगी दर्शकों की भीड़ जुटाने में वह भले असफल साबित हो। सबसे गंभीर और उल्लेखनीय बात यह, कि 'स्वदेश' या 'लगान' सतही सुधारवादी, या परोपजीवी-विचारधारायी या पश्चिम-रिझाऊ पनीली फिल्म नहीं है। निखालिस स्वदेशी विवेक और मात्रा-ज्ञान से प्रेरित फिल्म है।

भोपाल, 25 दिसंबर, 05

हमारे समय के सबसे तेजतरार बुद्धिजीवी अजीब अन्तर्विरोधों से ग्रस्त दिखाई देते हैं। अभी हाल ही में दिवंगता सृजन सौन्टेग को ही लैंकिस कदर अंतःविभाजित चरित्र का नमूना पेश किया इस प्रतिभाशाली महिला ने! सन् 1968 में उसका क्रांतिकारी कम्युनिज्म को अतिरिक्त उत्साह के साथ अपनाया; और 1980 तक पहुँचते-पहुँचते उसी कम्युनिज्म पर मानवाधिकारों के सरासर उल्लंघन का दोषारोपण करते हुए उसकी सार्वजनिक निन्दा का अभियान चलाना। और, हाँ, उसी ने तो कहा था न, कि “‘जेनेसाइड’ पर जिसकी बुनियाद रखी गई हो ऐसा अमरीका तो नष्ट होने के लिए अपने जन्म में ही अभिशप्त है” किंतु यह जानते-बूझते भी वह उसी अभिशप्त भूमि से चिपकी क्यों रही? क्यों इससे बेहतर कर्मभूमि अपनी स्वाधीन बौद्धिकता के लिए उसे नहीं सुलभ हुई?...एक समय वह फ्रेंच लेखक आन्द्रे जीद की ही तर्ज पर यही घोषित करती रही थी कि आलोचना तथाकथित सृजनात्मक साहित्य की तुलना में कहीं उच्चतर कला-रूप है। किंतु अस्सी के दशक में उसने अचानक यह ऐलान कर दिया कि अब वह ‘फिक्शन’ पर ही अपना समूचा ध्यान केंद्रित करेगी। और, ऐसा उसने किया भी। ‘द वे वी लिव नाउ’ और ‘वॉल्कैनो लवर’ अपने ढंग से नितान्त समसामयिक चिंताओं को उजागर करने वाली औपन्यासिक कृतियाँ तो हैं ही; भले वे उपन्यास (यानी आधुनिक उपन्यास) की हमारी जो अभ्यस्त पहचान है उसके मेल में न भी लगे।

निश्चय ही यह हमारे समय की ही विचित्रता है, जिसने हमारे लिए स्वयं निष्ठा या अन्तर्निष्ठा सरीखे शब्दों का ही अर्थ बदल दिया है। निश्चय ही, यह हमारा युग ही अन्तःविभाजित है जिसमें कब कोई पक्षाग्रह उतने ही दुर्दान्त ‘मोहभंग’ में परिणत नहीं हो जायगा, इसका कोई ठिकाना नहीं। किंतु क्या उच्च कोटि की सर्जनात्मक प्रतिभा की एक विशेषता स्वयं अपने युग का भी अतिक्रमण कर सकने की सामर्थ्य में भी निहित नहीं होती? सच्चा युग-साक्षी ही अक्सर युगातिक्रामी और आत्मतिक्रामी भी होता है।

अपने यहाँ अरुंधती राय भी मुझे कभी-कभी सृजन सौन्टेग की ही एक गरीब बिरादर या प्रतिच्छवि लगती है। निजी और सार्वजनिक, कला और ऐक्टिविज्म (सोशल ऐक्टिविज्म) दोनों को साधने की अपनी ही शर्तों पर साधने की बेहद सम्मोहनकारी जिद। पर क्या यह सम्मोहन कहीं आत्म-सम्मोहन का भी आरोप आमंत्रित करता नहीं लगता?

अपने-अपने ढंग से ये तीनों ही उदाहरण हमारे अपने देश-काल में अंतरात्मा की पीड़ित विवेक-चेतना (कान्शेंस) से ही प्रेरित और उसी को जगाने के उपक्रम लगते हैं निस्संदेह। किन्तु गोवारीकर का उपक्रम अपने सन्दर्भ में मुझे सारे सरलीकरणों के बावजूद बाकी दोनों के ‘रोमांटिक ऐडवेंचरिज्म’ की तुलना में अधिक प्रेयस्कर ही नहीं, अधिक श्रेयस्कर भी क्यों लग रहा है?

अनुवाद-कर्म पर उड़िया उपन्यासकार मनोजदास की टिप्पणी पढ़ने में आई जो बड़ी सार्थक और विचारोत्तेजक लगी। मनोज दास का कहना है ‘वी कैन नॉट कन्सीव ऑव ऐन इंडियन लिटरेचर विदाउट द रोल प्लेड बाइ द ग्रेट ट्रांस्लेटर्ज़ लाइक कम्बन, तुलसीदास, सरलादास, काशीरामदास ऐंड थंगम्। मोस्ट इंडियन लैंग्वेजेज़ एचीव्ड देयर ऐडल्टहुड थ्रू अ रिक्रियेटेड वर्शन ऑव द टू एपिकज़’ (यानी बगैर कम्बन, तुलसीदास, सरलादास, काशीराम सरीखे महान् अनुगायकों के क्या हम एक अखिल भारतीय वाङ्मय की अवधारणा तक कर सकते हैं? नहीं कर सकते। अधिकतर भारतीय भाषाएँ हमारे दो जातीय महाकाव्यों की पुनर्चनाओं के जरिये ही विकसित और वयस्क हुई हैं)। यह टिप्पणी श्री अरविन्द के हवाले से खत्म होती है, जिनका कहना था कि “अनुवादक को शब्दों को नहीं, शब्दों के पीछे कार्यरत भावना (स्पिरिट) को पकड़ना और उद्भासित करना चाहिए।”... मनोजदास पाते हैं कि स्वयं श्री अरविन्द का अनुवाद-कर्म कालिदास को अपना प्रतिमान बनाकर ही संभव हुआ है। मनोजदास के इस कथन पर से मुझे श्री अरविन्द की कही बात अचानक याद आई कि... “व्यास, वाल्मीकि और कालिदास में भारतीय संस्कृति की समस्त साधना पुंजीभूत हुई है।”

आज के समय और परिवेश में, आज के साहित्यिक वातावरण में श्री अरविन्द का नामोल्लेख तक कितना अटपटा और अनर्गल लगता है! क्या बीसवीं सदी की ये दोनों ही प्रतिभाएँ आज बहुत पीछेहमारी जरूरत या पहुँच के एकदम परेछिटक चुकी नहीं जान पड़ती? क्या सम्बन्ध है हमारे ज्यादातर सोशल ऐक्टिविस्टों का गाँधी (या उनके सर्वाधिक प्रखर और जाग्रत शिष्य धर्मपाल) से? क्या सम्बन्ध है आज के भारतीय बुद्धिजीवियों और राजनीतिकर्मियों को श्री अरविन्द के जीवन-कार्य अथवा जीवन-दर्शन से? तब फिर ऐसी उच्छिन्न ‘बुद्धि’ और ‘क्रिया’ की प्रामाणिकता या सार्थकता के बारे में कैसे आश्वस्त हुआ जा सकता है?

मनोज दास से मेरी मुलाकात इलाहाबाद की एक संगोष्ठी में हुई थी। वहाँ से हमने साथ-साथ ही लखनऊ तक की यात्रा की थी। वह यात्रा मेरे लिए इसलिए स्मरणीय हो गई कि मनोज दास से मेरे यह पूछने पर भी कि अरविन्द की ओर आपका झुकाव क्यों और कैसे हुआ, उन्होंने अपनी जीवन-गाथा सुना दी जो मेरे लिए सर्वथा अप्रत्याशित और अपूर्वानुमेय थी। मनोज दास छात्रावस्था, बल्कि अपनी समूची युवावस्था के दौरान कट्टर कार्ड-होल्डर कम्युनिस्ट थे। वे इंडोनेशिया में जो कम्युनिस्ट तख्ता-पलट की योजना बनी, उससे सक्रिय ढंग से जुड़े हुए थे। वहीं अकाल-भुखमरी जैसी घटनाओं के सामने अपने साथी कम्युनिस्टों की घोर संवेदनहीनता और क्रूरता के साक्षात् कटु अनुभवों ने उस रास्ते से उनका संपूर्ण मोहभंग कर दिया। अंततः उनकी पीड़ित विवेक-चेतना ने इस मोहभंग से उपजे शून्य से उबारने वाले जीवन-दर्शन की खोज में पांडिचेरी की यात्रा की और ‘श्रीमा’ के प्रथम साक्षात्कार में उसे पा लिया। निश्चय ही इसके पीछे बौद्धिक ऊहापोह और अन्तर्द्वन्द्व की भी एक लम्बी प्रक्रिया रही

होगी, जिसके ब्यौरे में मैं जाना चाहता था। पर मनोज दास का कहना था कि निर्णायक भूमिका 'मदर' के उस प्रथम साक्षात्कार की ही रही।

'मैं भी एक तरह का कम्युनिस्ट ही हूँहालाँकि रूसी तरीका मुझे ग्राह्य नहीं' यह श्री अरविन्द ने खुद ही एक जगह कहा है (द्रष्टव्य 'ईवनिंग टॉकज़ विद श्री अरविन्दो' ए.बी. पुराणी)। उसी किताब में एक जगह यह भी उल्लेख मिलता है कि वे अपनी योगसाधना के स्तर पर रूसी क्रांति की सफलता के लिए भीयानी उसके पक्ष में भी कार्य करते रहे थे ठीक उसी तरह, जिस तरह दूसरे महायुद्ध के दौरान (विशेषकर, डंकर्क की लड़ाई के दौरान) वे मित्रराष्ट्रों की विजय के पक्ष में सक्रिय ध्येयगी की भूमिका पर से। यहीं मेरा मन प्रश्नाकुल और शंकाग्रस्त होता है। योग की परम्परा में इस तरह जीवन-संसार की गतिविधियों में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप करने का कोई उदाहरण नहीं दीखता। व्यक्तिगत रूपांतरण के साधन की तरह तो वह सर्वमान्य है; किंतु दुनिया को या समाज को बदलने की संभावना का जिज्ञा कहीं नहीं मिलता। मीमांसा दर्शन तो साफ ही कहता है कि यह दुनिया हमेशा ऐसी ही रहती है, बदलती नहीं है ('न हि कदसिदनीदृश जगत्')। अन्य दर्शन सम्प्रदायों में भी यही लगता है। तब फिर मार्क्स की तरह दुनिया को बदलने का दावा यहाँ कहाँ से आ गया? योगी और 'ऐक्टिविस्ट' (क्रांतिकारी) का यह असंभव सा सम्मिश्रण क्या हमारी आधुनिक तर्कबुद्धि या पारम्परिक श्रद्धा-बुद्धि को सहज स्वीकार्य हो सकता है? दूसरी ओर, वह सुखद विस्मय, जो हममें जागता हैइस महायोगी को विश्व-राजनीतिक घटना-चक्र पर बराबर पैनी नजर गड़ाए हुए और हस्तक्षेप करने की हद तक उसमें दिलचस्पी लेते हुए देखकर। अरविन्द यहाँ जगह-जगह गाँधी की आलोचना करते हैं और उस आलोचना का एक बड़ा मुद्दा यह भी है कि गाँधी हिंदू विश्व-दर्शन की बजाय ईसाई विचारों से कहीं अधिक प्रभावित और प्रेरित हैं। किंतु, पश्चिम की ही जो गुह्य रहस्यवादी ज्ञानधारा है, उसकी 'दूसरी परम्परा' जिसे ईसाइयत की मुख्य धारा ने, चर्च संगठन द्वारा अवदमित करके रसातल में धकेल दिया था उसी गुह्य पश्चिमी 'ऑकल्ट' परम्परा का प्रभाव क्या स्वयं श्री अरविन्द पर भी नहीं पड़ा था? निश्चय ही उन्हें उसे भी साथ लेकर चलने की जरूरत महसूस हुई होगी। तभी न उसी गुह्य परम्परा की एक प्रामाणिक प्रतिनिधि मीरा रिशाट को उन्होंने न केवल सर्वाधिक महत्त्व दिया बल्कि उसे आश्रम की अधिष्ठात्री 'मदर' के आसन पर भी बिठा दिया।

तो, हमारी आधुनिक तर्क बुद्धि को समाधान नहीं मिलता इस तरह के कई टेढ़े-मेढ़े प्रश्नों का। विज्ञान की ही तरह आध्यात्मिक यथार्थान्वेषिणी दृष्टि को भी हम अमान्य नहीं कर सकते। अपने देश में व्यक्तिगत रूपांतरण-सिद्धि के अनेकानेक ज्वलन्त दृष्टान्त हमारे सामने आज और अभी विद्यमान हैं, जिन्हें कोई अन्धा ही मानने से इनकार करेगा। किन्तु, सम्पूर्ण जीवन-जगत्मानवी और मानवेतर भौतिक प्रकृति के आमूलचूल रूपांतरण का दावा! वह क्या मार्क्स के यूटोपिया की तरह ही एक यूटोपिया, यानी असाध्य स्वप्न नहीं लग उठता? दोनों जगह सिद्धान्त और व्यवहार

('प्राक्सिस') है। अब, उनमें से एक को तो आजमाया जा चुका है। और, उस आजमाइश का प्रामाणिक इतिहास भी 'कम्युनिज्म की काली किताब' के रूप में हमारे सामने उजागर हो चुका है। अब, यों तो श्री अरविन्द के 'यूटोपिया' के साथ उस तरह की विडम्बना और त्रासदी घटित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि वहाँ आप अपनी ही चेतना के साथ प्रयोग करते हैं, वह चेतना का ही जोखम है; उसमें हाड़-मांस के बने 'दूल्हों' को आप अपनी भविष्यवादी राजनीति का मोहरा नहीं बनाते; न मनुष्य को यांत्रिक या जड़ तत्त्व मानकर उसका एक तथाकथित अच्छे साध्य के लिए मनमाना और निरीह साधन की तरह इस्तेमाल करने कीकरोड़ों की हत्या, विश्वासघात, षड्यंत्र आदि सब कुछ को जायज मानकर अन्तरात्मा से अवध्य बन जाने की सुविधा हासिल कर लेते हैं। नहीं। श्री अरविन्द के 'पूर्णयोग' के रास्ते पर चलने में उस तरह के किसी खतरे की गंध तक नहीं। वह गाँधी-मार्ग की भाँति ही निरापद है। और अलावे इसके, उसका अनुयायी बनना मार्क्स का अनुयायीयानी कम्युनिस्ट पार्टी का कार्ड होल्डर बन जाने से सहस्रगुणा अधिक कठिन भी होगा। किन्तु...इस 'किन्तु-परन्तु' को लाँघना भी तो आसान नहीं। निरे कम्युनिस्ट भौतिकवाद को एक ठेठ हिन्दुस्तानी संस्कार और संवेदना का प्रतिनिधि सहज नहीं अपना सकता। किंतु अध्यात्म-मार्ग भी क्या उलझनों से रहित है? मृत्युशय्या पर कृष्णमूर्ति से लिया गया एक इंटरव्यू कभी मेरे पढ़ने में आया था। उनसे जब पूछा गयामहात्मा गाँधी की अहिंसा के बारे में आपका क्या ख्याल है? तो कृष्णमूर्ति ने इसका जो उत्तर दिया, वह मेरे लिए अविश्वसनीय और दहला देने वाला था। "ओह गाँधी? ही वॉज अ मोस्ट वायलेंट पर्सन"। क्या अर्थ हुआ इसका? यही न, कि गाँधीजी वाला सत्याग्रह भी अंततः एक आग्रह ही है और सत्य यानी आध्यात्मिक सत्य अनासक्त अनाग्रह ही हो सकता है? इतिहास से भी निरपेक्ष, और परम्परा से भी स्वतंत्र सर्वथा क्षण-प्रतिक्षण नवसर्जित अनुभव। इसे क्या कहेंगे? पता नहीं कृष्णमूर्ति अरविन्द के पूर्णयोग वाले क्रांतिकारी दर्शन को लेकर क्या कहते! अगर उसके बारे में भी प्रश्न उनसे करता वह इंटरव्यू लेने वाला! लगता है, वे उसे भी उसी तरह नकार देते। नहीं?...तो, फिर? फिर क्या मार्ग है मनुष्य की समष्टि के 'रूपान्तरण' का?

'महाभारत' में ऐसी ही असमंजसकारी परिस्थिति के सामने व्यास ने किसी के मुख से कहलवाया है : "तर्क अप्रतिष्ठित होता है ; श्रुतियाँ भी अलग-अलग बात करती हैं। एक भी ऋषि ऐसी नहीं है, जिसके मत को हम प्रामाणिक मानकर उसका अनुसरण करें। धर्म का तत्त्व अत्यन्त निगूढ़ और गुहा में छुपा हुआ है।" मगर फिर इसी के साथ उसी श्लोक में यह कहकर समस्या का समाधान भी कर दिया गया है कि "श्रेष्ठ जन जिस राह पर चलें, उसी राह को अपनी राह बना लो" ('महाजनों येन गतः स पन्था')। क्या महाभारत के इस कलजुगी संस्करण स्वरूप हमारे अपने युग में भी वह सीख काम देती है? दे सकती है? यह उत्तर क्या स्वयं अपने आप में एक विकट प्रश्न नहीं बन जाता?

हिमालयी संस्कृति

कृष्णनाथ*

With Best Compliments
from

VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.
Administrative Office
LG-69, World Trade Centre,
Babar Lane, New Delhi-110001

Regd. Office

1/3575, Netaji Subhash Marg, Darya Ganj,
New Delhi-110002 Phone Off. 3277883, 3711848

1. हिमालय की संस्कृति और प्रकृति एक-दूसरे पर निर्भर है। प्रकृति अगर गंदी होती है तो संस्कृति, और संस्कृति अगर गंदी होती है तो प्रकृति। प्रकृति अगर साफ और शांत है तो संस्कृति, और संस्कृति अगर साफ-सुथरी है और शांत है तो प्रकृति। इसलिए हिमालयी संस्कृति की पहली समस्या तो हिमालय की प्रकृति और पर्यावरण की रक्षा की है। इस पर कुछ ध्यान गया है, जो जरूरी है मगर काफी नहीं। इस पर फैशन के तौर पर नहीं, असली काम की जरूरत है। इस दिशा में गढ़वाल हिमालय में श्री सुन्दरलाल बहुगुणा का काम, या हिमालय पार लद्दाख इकोलॉजिकल ग्रुप का काम दिशासूचक हो सकता है।

पृथ्वी का ताप बढ़ने के कुछ कुपरिणाम हिमालय में भी दीख रहे हैं। एक तो हिमनद सूखकर पीछे खिसक रहे हैं। गंगा का स्रोत गोमुख ग्लेशियर एक पीढ़ी में देखते-देखते पीछे गया है। फिर, टिहरी बाँध से भी गंगाजल के बहाव में विघ्न है। 'बहता पानी निर्मल' के स्थान पर बँधा-बँधा सा जल है। उधर लद्दाख में पिछले कई वर्षों से बारिश हो रही है। गत वर्ष तो सिंधु नदी की बाढ़ से कई गाँवों के लिए खतरा पैदा हो गया। कच्ची मिट्टी की दीवारों से पानी चूने नहीं, बहने लगा। गोनपा की मिट्टी की दीवारों पर भी वर्षा का असर हुआ। एक गोनपा तो गिर ही गयी। यदि यह एक वर्ष का कुयोग हो तो उतनी चिंता नहीं। किन्तु लगता है कि हिमालय पार का मौसम बदल रहा है। इस बदलते जलवायु का प्रभाव हिमालयी शिल्प और संस्कृति पर होना ही होना है। पूर्व हिमालय में, अधिकृत तिब्बत में कम्युनिस्ट चीन ब्रह्मपुत्र के स्रोत को बदलने में लगा हुआ है। उस पर बाँध बनाकर ब्रह्मपुत्र के जल से अपने उत्तरी रेगिस्तान को सींचने के जुगाड़ में है। इसका प्रभाव उत्तरपूर्व भारत और दक्षिण एशिया पर क्या होगा, इसकी कल्पना ही की जा सकती है। जल तो जीवन है, बिन पानी सब सूना और सूखा है। प्रकृति भी, संस्कृति भी।

2. संस्कृति की यहाँ कामकाजी परिभाषा लेकर चलें। वैसे तो मनुष्य का जो खास तौर-तरीका है, सोच है, संस्था, रीति-रिवाज, काम करने का ढंग, भाषा, कला,

* सा. 11/56 नवापुरा, सारनाथ, वाराणसी-221007

वगैरह है, जो संस्कार है वह सब संस्कृति के अन्दर है। लेकिन यहाँ विशेषरूप से हिमालयी धर्म, अर्थ और भाषा, कला को लेकर बात चीत की जाए तो कुछ नतीजा निकल सकता है, अन्यथा नहीं।

3. हिमालय का धर्म क्या है, जाहिर है हिमालय कोई बौद्ध या हिन्दू शैव या शाक्त या वैष्णव, या ईसाई नहीं है। हालाँकि ये संगठित विश्वधर्म हिमालय में हैं। किन्तु हिमालय तो हिमालय है। ज्यादा कर के हिमालय में मंत्र और देवता का जोर है। जैसे अरुणाचल प्रदेश में तो धर्म वालों से गैर-धर्म वालों की संख्या कहीं अधिक है। धर्मों में हिन्दू, बौद्ध, ईसाई सब मिला लें तो भी जो किसी संगठित विश्वधर्म के मानने वाले नहीं हैं उनकी संख्या अधिक है लेकिन ये अधार्मिक नहीं हैं। ये प्रकृति पूजक हैं, या एक किस्म के प्रकृतिवादी हैं। जो धर्मों के संगठित दायरे में हैं उनमें भी परतों पर परतें हैं। जैसे काठमाडौं घाटी में बुंग्दया लोकेश्वर मत्स्येन्द्रनाथ हैं। प्रारम्भ में तो एक पत्थर की शिला है जो बुंग्दया नामक आदि देवता है। उस पर से जब काठमाडौं घाटी में बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ तो अवलोकितेश्वर का रूप दिया गया। जो पूजापाठ है, स्तुति है, मंत्र है वह प्रधान रूप से अवलोकितेश्वर का है। अवलोकितेश्वर जो बौद्ध देव परिवार में करुणा के देवता हैं। इसका ही संक्षेप लोकेश्वर बुंग्दया के साथ पहले जुड़ा। फिर जब काठमाडौं घाटी में शायद गोरखा राज आया या गोरख पंथ आया, जो भी क्रम रहा हो, तो इस पर मत्स्येन्द्रनाथ भी बैठा दिये गये। अब यह पूरा देव संकुल बुंग्दया लोकेश्वर मत्स्येन्द्रनाथ है। यह प्रतीक है हिमालयी धर्म और संस्कृति का।

4. इस पुराने जमाव पर नये का प्रभाव पड़ रहा है। हिमालय की शाश्वत बर्फ पिघल रही है और दुनिया की तेज हवाओं का झोंका हिमालय की कोख में पहुँच रहा है। वैसे तो परिवर्तन सर्व-सर्वत्र-सर्वदा होता रहता है, हिमालय में भी। किन्तु पिछले तीस-चालीस वर्षों में परिवर्तन की गति तेज हो गयी है। जितना हेर-फेर हिमालय में शताब्दियों में नहीं हुआ उतना प्रायः पिछले तीस वर्षों में हुआ है। इस परिवर्तन के हेतु-प्रत्यय प्रायः बाह्य राजनीतिक अधिक हैं। या कम से कम इन्हीं रूपों में प्रगट हुए हैं। हिमालयी सीमांत अब धर्म राज्य नहीं। हिमालयी सीमांत की जब हम चर्चा करते हैं तो हिमालय के दोनों ओर बसे राज्य और समाज की करते हैं। हिमालय के उत्तर तिब्बत शताब्दियों से धर्म का द्वीप रहा है। हिमालय के ऊँचे पहाड़ी-लिंगों में, द्वीपों में, धर्म का ध्वज फहराता रहा है। लद्दाख से लगा कर अरुणाचल प्रदेश तक ऊपरी हिमालय की यही कथा रही है। किन्तु 1949 में चीन के कम्युनिस्ट हो जाने के बाद जैसे प्रतिशोध के भाव से चीन ने 1950 में ही तिब्बत पर अपना जाल फेंका और 1959 तक तो यह फंदा इतना कस दिया कि परम पावन दलाई लामा के नेतृत्व में तिब्बती संस्कृति और अस्तित्व की रक्षा के लिए जो प्रायः 60 हजार संवेदनशील लोग थे, उन्हें हिमालय के दुर्गम रास्तों और बियावानों को पार कर तवांग, से ला, बोमडिला,

तेजपुर, होकर भारत आना पड़ा। यह आधुनिक इतिहास की एक जबरदस्त त्रासदी है। हिमालयी संस्कृति को स्वयं अपनी मूलभूमि से उखाड़ दिया गया। यह फिर भारत में जमी। किन्तु हिमालयी धर्म संस्कृति की दृष्टि से तो तिब्बत मध्य देश है, भारत प्रत्यंत देश। इतिहास में कभी भारत मध्य देश या हिमालयी सीमांत प्रत्यंत देश था। किन्तु जैसे चक्र पूरा घूम गया है। हिमालयी धर्म, दर्शन, साहित्य, साधना, चित्रकला, आयुर्वेद सबका मूल भारत होते हुए भी अपने मूल में यह शताब्दियों से लुप्त-प्राय है। हिमालय में जैसे बर्फ के घर में यह सुरक्षित पड़ा रहा। धर्म, दर्शन, साहित्य, योग तंत्र की परम्परा तो हिमालय में ही, विशेषकर तिब्बत में जीवित जाग्रत थी। अब यह बर्फ ताप से पिघल रही है। हिमालय के पार उत्तर में धर्म का राज नहीं, अधर्म का राज है, कम्युनिज्म में धर्म के लिए गौरवपूर्ण स्थान नहीं है। बिल्कुल नहीं है, सिद्धान्त की दृष्टि से, यह कहना सही नहीं है। किन्तु पहले-पहले उन्माद में तो जैसे धर्म का विरोध ही कम्युनिज्म-सोशलिज्म है। जो हो, उस पार सद्धर्म नहीं, इस पार हिमालय के राज्य संविधान की दृष्टि से धर्म-निरपेक्ष है। व्यवहार में, प्रधानरूप से ब्राह्मण धर्म है और अत्यंत अल्पसंख्यक रूप से श्रमण-बौद्ध जैन। अल्पसंख्यकों में भी संख्या के बल पर मुसलमान का तो फिर भी अल्प स्थान है ईसाइयत का असर पाश्चात्य प्रभाव से चलते हैं। किन्तु बौद्ध जैन और हाल-हाल तक सिख को तो जैसे हिन्दू धर्म की एक शाखा ही मानने का आग्रह रहा है और जो धर्मों के बाहर है, हिमालय और विंध्य के जंगलों में बसे हैं, वे आदिवासी तो जैसे जंगली हैं, कुछ गिनती में नहीं हैं, हालाँकि वे अनुसूचित जनजाति कहे जाते हैं, लेकिन जैसे उनकी कोई सूचना ही नहीं। वे अनाम, अव्यक्त मांस पिंड भर हैं। जो दृष्टि में नहीं हैं तो मानो सृष्टि में नहीं हैं। इन आदि संस्कृतियों की जो व्यथा है वह तो अगम अबूझ है। वह तो जैसे कही-सुनी ही नहीं जा रही है। सिर्फ कुछ खोजियों के बखान में है और कुछ पार्लियामेंट, असेम्बली की सीटों और नौकरियों में। संस्कृति के ऐटलस में ये जैसे है नहीं। जो हो, हिमालय में धर्म और संस्कृति के पीछे अब दोनों ओर राज्य ही शक्ति नहीं है दण्ड शक्ति नहीं है। इसलिए धर्म अरक्षित है।

अब अगर हिमालयी धर्म और संस्कृति का यह संक्षिप्त रेखांकन सही है तो इससे कई एक समस्याएं निकलती हैं। एक तो यही कि अगर हिमालयी प्रकृति और संस्कृति में विकृति आ रही है तो इसे कौन रोक सकता है, जैसे ठेकेदारी के लोभ और लालच को कौन थाम सकता है? 'टूरिज्म' ही कमाई है, लालच के चलते जो स्थानीय संस्कृति पर जो आक्रमण हो रहा है उसका कौन प्रतिकार कर सकता है? जो सांस्कृतिक धरोहर चोरी हो रही है उस पर कौन निगरानी कर सकता है? और इससे भी ज्यादा गहरे अर्थ में युवा-युवतियों के चित्त में जो अनास्था आ रही है, जो आस्था हिल गयी है उसे कौन दृढ़ कर सकता है?

5. एक सीधी समस्या तो यह है कि पहले हिमालय पार के विद्यार्थी तिब्बत पढ़ने जाते थे। हिमालयी बौद्ध धर्म और दर्शन का अध्ययन तिब्बत गये बिना सम्भव न था। तिब्बत की भूमि पर पाँव रखे बिना उसका मान भी न था। तिब्बत में कम्युनिस्ट चीन के कब्जे के बाद विशेषकर वर्ष 1959 में परम पावन दलाई लामाजी के निष्क्रमण के बाद अध्ययन के लिए तिब्बत जाने का क्रम भंग हो गया। अब इसके विकल्प के रूप में लद्दाख में युवा लामाओं के अध्ययन के लिए एक स्कूल खुला। सारनाथ में केन्द्रीय उच्च तिब्बती अध्ययन संस्थान की, गंगटोक में नमग्यल इंस्टीट्यूट की स्थापना हुई। कर्नाटक राज्य में तिब्बती बस्ती बसने के साथ, 1960 के दशक में तिब्बत के परम्परागत विहार विश्वविद्यालय सेरा, ड्रेपुंग, गदेन फिर से काम करने लगे। फिर भी, वे जैसे असल की नकल हैं। तिब्बत के विहारों में जो बीस-पच्चीस वर्षों तक निरंतर पाठ, पूजा, ध्यान भावना होती थी उसकी ओर इसकी कोई तुलना नहीं। अब इस अभाव का पूरण कौन कर सकता है?

6. हिमालय की पुरानी दुनिया नष्ट हो गयी। नयी मिली नहीं। इसलिए एक रिक्तता, अभाव या अवसाद हिमालय में सब दूर है। आर्थिक दृष्टि से, हिमालय के पार से तिब्बत से ऊन, पशमीना, भेड़, बकरा, नमक, सुहागा इत्यादि इस पार आता था। इस पार से, भारत से अनाज, चाय, चीनी, गुड़, रेशमी, सूती कपड़ा इत्यादि तिब्बत जाता था। लद्दाख से लगा कर अरुणाचल तक दो दरों से होकर यह आवागमन था। दोनों ही ओर मण्डियाँ थीं। मौसमी मेले थे। इनमें व्यापारी आते थे। व्यापार करते थे। ये मित्र होते थे। यहाँ से माल इकट्ठा कर छोटी-छोटी पोतलियों में बकरे-बकरियों पर लाद कर गर्मियों में ऊपर जाते थे। सर्दियों में नीचे उतरते थे। यह अन्तर्हिमालय व्यापार इन इलाकों में समृद्धि और जिन्दगी का बड़ा कारण रहा है। जैसे, हिन्दुस्तान-तिब्बत रोड पश्चिमी हिमालय की जीवन रेखा रही है। अब यह टूटी-फूटी है। कुछ दूर तक नयी 'बार्ड रोड' इसकी जगह आ गयी है। यह चीनी आक्रमण के बाद प्रतिरक्षा की जरूरतों के चलते बनी है। जबकि पुराने गाँव कल्पा, पड़, जङ्गी कानम आदि पुराने हिन्दुस्तान तिब्बत रोड पर हैं। अब वे आकाश में सूली पर टँगे हुए लगते हैं। नीचे की सड़क पर बस अड्डा और चाय और बिसाती की दुकानें हैं। गुजरते हुए यात्री के लिए ये ही उन गाँवों के नाम से जाने जाते हैं। यह नाम-रूप का झगड़ा मात्र नहीं है, पूरा जीवन का छंद टूट गया है। जो आदमी तिब्बत से व्यापार करते थे, हरकत में थे वे सब बूढ़े होकर गुजर रहे हैं, और नये प्रायः कुछ नहीं कर रहे हैं। छंग और घंटी पीते हैं और ताश और जुआ खेलते हैं। स्त्रियाँ ही प्रायः घर-बाहर का काम करती हैं। मर्द कुछ कठिन काम करते हैं, जैसे खेत जोतना। लेकिन बहुतों के लिए कोई रोजगार-धंधा नहीं है, सिवा सरकारी नौकरी के या पलटन में भरती होने के। इससे वे दूर चले जाते हैं। मनीआर्डर भेजते हैं। एक तरह की मनीआर्डर अर्थव्यवस्था पनप रही है। घर के बर्तनों में 'प्रेशर कुकर', थर्मस वगैरह भी बाहर की कमाई से जुड़ गये हैं। पुराने कांसे

और पीतल के भारी बर्तनों की जगह स्टेनलेस स्टील के बर्तन आ गये हैं। तिब्बती नमक की जगह सफेद, पिसा नमक आ गया है। पहले तो इसे पशु भी नहीं खाते थे। कहते हैं बीमार पड़ जाते थे। अब अभाव में खाते ही हैं। कपड़े भी पुरानी पट्टी के चोला जैसे थे या छुबा। इनकी जगह कोट-पैट आ गये हैं। स्त्रियों की वेश-भूषा भी बदल रही है। कम ऊँचाइयों पर तो सयानी स्त्रियाँ साड़ी पहनने लगी हैं, लड़कियाँ सलवार-कुर्ता या जीन्स-शर्ट। जो पुरानी कढ़ाई-बुनाई थी वह नष्ट नहीं हुई है, लेकिन उनकी जगह लुधियाना या कलकत्ता की हौजरी के सपाट शाल, स्वेटर, मोजा आ रहे हैं जबकि पुरानी डिजाइन और बुनाई का तो कोई जवाब नहीं। हैंडीफ्राफ्ट को कुछ सरकारी संरक्षण मिला है। इससे यह नष्ट होने से तो बच गया है। लेकिन व्यावसायिक नकली माल अच्छे माल को जैसे बाजार से खदेड़ रहा है। जैसे खोटा सिक्का अल्पकाल में खरे सिक्के को बाजार से खदेड़ देता है।

7. भाषा की दृष्टि से हिमालय में अस्त-व्यस्तता है। ऊपरी हिमालय में लद्दाख से अरुणाचल तक धर्म की भाषा भोटी (तिब्बती) रही है। यह प्रशासन की भी भाषा रही है। इस नाते ऊपरी हिमालय के इस पार-उस पार समझी जाती है। लद्दाख के लामा अरुणाचल प्रदेश में तवाड और सेला वोमडिला में गाँव में सीधे बात कर सकते हैं। बोलियाँ अलग-अलग अलग-अलग रही हैं। जैसे पहाड़ के एक लिङ्ग या द्वीप में एक बोली तो दूसरे में दूसरी, या नदी के इस पार, उस पार बोली में, उच्चारण में अंतर है। किन्तु मानक (स्टैंडर्ड) साहित्यिक भाषा के रूप में भोट भाषा रही है। अब अंग्रेजी और हिन्दी इसकी जगह ले रही है या इसको खिसका रही है किन्तु यह दफ्तर या बाजार की अंग्रेजी या हिन्दी शास्त्रीय भोट भाषा की जगह नहीं ले सकती। शास्त्रीय भोट तो संस्कृत और पालि प्राकृत सरीखी है। पश्चिमी हिमालय में श्रीनगर और पंजाब के प्रभाव से बाजार में और स्कूल में उर्दू का भी चलन रहा है। अब भी वह चलता जाता है। जैसे लद्दाख में स्कूल में भाषा और गणित और लिपि में अरबी-उर्दू तौर-तरीका चलता है। पंजाब की पहाड़ी रियासतें 'पंजाब हिल स्टेट्स' होने के कारण लाहुल-स्पीति, किन्नौर आदि जिलों में भी उर्दू पढ़ाई जा रही है। इसने परम्परागत भोट भाषा, लिपि को दूसरे दर्जे का बना दिया है। अब वह राजनीतिक स्थिति नहीं है फिर भी पुरानी लत के कारण उर्दू का आग्रह है। भोट भाषा के अपरिचय के कारण सरकारी कर्मचारी इसे लागू करने में रुकावट डालते हैं। कहते हैं कि यह एक साम्प्रदायिक माँग है, लोग नहीं चाहते, मजहबी, पुराण-पंथी लोग इसे उठाते हैं। इस नाम पर वे अपनी अभ्यस्त उर्दू को दूसरी जुबान के नाम पर चलाना चाहते हैं। अंग्रेजी का ज्ञान चाहे जितना कम क्यों न हो उसका दबदबा है अंग्रेजी कान्वेंट जैसे स्कूलों में पढ़े लड़के-लड़कियों का और उनके माता-पिता का एक अलग वर्ग ही है जो अपने बड़प्पन के घमंड में है। उनके लिए तो हिन्दी या भोटी दूसरे दर्जे की देहाती जुबान है। इससे उन्हें जैसे परहेज है। भोटी तो पढ़ते ही नहीं। हिन्दी को भी अंग्रेजी की तरह चबा-चबा कर बोलते या

जान कर भी न बोलते हैं। स्कूलों में एक भोटी टीचर रखा है लेकिन उसका कोई दर्जा नहीं। उतना खास काम भी नहीं। पढ़ाई में घंटे भी कम हैं, और महत्त्व भी। लाहुल-स्पीति और किन्नौर में इसे लागू कराने की कोशिश हो रही है। एक सरकारी कमेटी ने इसकी सिफारिश भी कर दी है। किन्तु जैसे प्याले और ओठ के बीच कहीं भी चाय गिर पड़ सकती है, वैसे ही इसकी पढ़ाई भी। भाषा लिपि के अपरिचय से उनकी बहुमूल्य पोथियाँ बस्तों में बंद पड़ी हैं और ग्रंथ लुप्त हो रहे हैं। और नयी पीढ़ी के लड़के-लड़कियाँ अपनी परम्परा से कटते जा रहे हैं। कहीं तो यह कुतर्क भी चलता है कि तिब्बती तो विदेशी भाषा है। इसे पढ़ाएँगे तो चीन आ जाएगा। दावा करेगा कि यह तिब्बती भाषा क्षेत्र है। और तिब्बत चीन का है। इसलिए यह इलाका भी चीन का है। जबकि भोट लिपि तत्कालीन भारतीय लिपि के आधार पर बनायी गयी। इसमें बुद्ध वचन और संस्कृत मूल शास्त्र के ग्रंथ और टीका ग्रंथ, कंग्युर (बुद्ध वचन), तंग्युर (शास्त्र वचन) लिखे हुए, हिमालय में, सब दूर सुरक्षित हैं। लेकिन ये दोनों वेष्टनों में लपेटे हुए पड़े रहते हैं। कभी इन्हें धूप दीप दिखाते हैं। लेकिन प्रायः पढ़ते नहीं। फिर, जैसे जर्मन भाषा जर्मनी के अलावा पोलैंड, स्विटजरलैंड आदि में भी बोली जाती है इसलिए क्या जर्मन भाषा इलाकों में कोई स्विस सरकार या जनता यह कह सकती है कि यहाँ बोलने से जर्मनी आ जाएगा। भाषा की सीमा तो राजनीतिक सीमा के परे भी जाती है और यह भाषा की ताकत है। कमजोरी नहीं। इसलिए भोट भाषा की इस शक्ति को पहचान कर इसे ऊपरी हिमालय में शिक्षा और शोध में इसका उचित स्थान मिलना ही चाहिए। बोलियों की अपनी जगह है लेकिन यह भाषा का स्थान नहीं ले सकती। इसलिए बोली की आंचलिकता से ऊपर उठ कर इस सम्बन्ध में व्यापक रूप में सोचना-बरतना जरूरी है। स्कूलों में पढ़ाई और विश्वविद्यालयों में शोध कार्य में भोटी को स्थान मिले, यह उचित ही है।

8. भारतीय संस्कृति की दृष्टि से गंगा-यमुना का इलाका तो मध्य देश माना जाता है। हिमालय प्रत्यंत देश। इस दृष्टि से यह कहा जाता है कि हिमालय की प्रत्यंत संस्कृति को संस्कृति मुख्य धारा से जुड़ना चाहिए। मध्य देश और मुख्य धारा से जुड़े बिना इसकी गति नहीं। लेकिन संस्कृति में ऐसी मुख्य धारा नहीं। न ही संस्कृति में एक का दूसरे पर आधिपत्य और आरोपण शुभ है। भारतीय संस्कृति की विशेषता है विविधता। एकता तो इसमें गुँथी हुई है। लेकिन इस पर एकता बाहर से थोपी नहीं जा सकती। यह न सम्भव है, न श्रेयस्कर। इसलिए हिमालय की संस्कृति को मध्य देश की संस्कृति में नत्थी करने का कोई अर्थ और औचित्य नहीं है, बल्कि यह हिमालय की विरासत को, मनुष्य जाति की श्रेष्ठ विरासत को नष्ट करने जैसा है। उदाहरण के लिए, लद्दाख की संस्कृति ठेठ वैष्णव दृष्टि से या तो देवों की संस्कृति है, या म्लेच्छों, ब्राह्मणों की है। वैष्णव स्नान, छुआछूत और कर्मकाण्ड तो लद्दाख सहित ऊपरी हिमालय में चल नहीं सकते। यह तो मृत्यु का कारण बनेंगे न कि जीवन का धारण कर सकेंगे।

हाँ, यह देश से बिलकुल कटे हुए भी नहीं हैं। देश में इनके केन्द्र भिन्न अवश्य हैं। जैसे काशी नहीं वाराणसी। ऋषिपत्तन मुगदाव का हिरण और चक्र सारे बौद्ध विश्व में हैं। हिमालय में गोनपा में शीर्ष पर चक्र और दो हिरण जो लिखा हुआ है वह तो सारनाथ में हुए धर्मचक्र प्रवर्तन का ही सूचक है। ऐसे ही गया का विष्णु पद नहीं, बोध गया सभी हिमालयी बौद्धों का तीर्थ है। जैसे कि लुंभिनी, और कुसीनारा (कुशीनगर, कसया) है। गर्मियों में सारे देश से तीर्थयात्री विशेषरूप से उत्तराखण्ड के चारों तीर्थों मेंगंगोत्री, जमनोत्री, बद्रीनाथ, केदारनाथकी तीर्थयात्रा करते हैं। अब टूरिस्ट भी आते हैं। सर्दियों में बड़ी संख्या में हिमालय से तीर्थयात्री इन नित्य तीर्थों में आते हैं। लेकिन हम इन्हें पहचानते नहीं। तिब्बती या भोटिया समझते हैं। ज्यादा ज्यादा करके इन्हें स्वेटर या शाल बेचने वाला और माला फेरने वाले भोटिया मानते हैं। तो यह पहचान और प्रीति तो परस्पर होती है, यह नहीं होती। मैदानी इलाकों से आने वालों पर कालचक्र के अभिषेक में बोध गया में 1986 में कोई टैक्स नहीं लगता था। हिमालयी लोगों से टैक्स वसूला जाता था। तो क्या यह कोई परदेश से आने वाले लोग हैं? और अगर परदेशी हैं, अपरिचित हैं तो फिर इनसे हमें या उन्हें हमसे क्या लेना-देना है? तो विविधता के सौन्दर्य को मान कर उनमें निहित एकता को महसूस करना है, न कि एकता को आरोपित करना। जहाँ तक एकता है सो तो ठीक है। लेकिन जहाँ एकता नहीं भिन्नता है वहाँ भिन्नता को देखना और स्वीकार करना ही श्रेयष्कर है। आरोपण अनावश्यक, बल्कि एक हद के बाद साफतौर पर नुकसानदेह है। असल में तो हिमालय अपनी ऊँचाई के चलते प्राकृतिक रूप से श्रेष्ठ साधना और जीवन-चर्या का, सौन्दर्य और शान्ति का घर है। भारत सहित संसार की समस्त संस्कृतियों को लिए इसके पास बहुमूल्य विरासत सुरक्षित पड़ी है। धर्म, दर्शन, योग तंत्र, आयुर्वेद, ज्योतिष, शब्द और हेतु जैसी लौकिक-आध्यात्मिक विधाएँ और कलाएँ यहाँ शताब्दियों से सुरक्षित हैं। अब संचार और सड़क के साधनों के पहुँचने से, 'टूरिस्ट' और टी.वी. के आक्रमण से यह नष्ट होने के कगार पर हैं। समस्या इन्हें कहीं किसी मध्यदेशीय खूँटे से बाँध देने की नहीं है। इनकी विशिष्ट संस्कृति के संरक्षण-संवर्धन और संशोधन की है। अब यह अपने प्राचीन रूपों में जस-की-तस, अलग-थलग तो नहीं रहने वाली है। यहाँ भी सड़क और संसार के साधनों के जरिए दुनिया की हवा पहुँच रही है। इन हवाओं को रोकना न तो सम्भव है न श्रेयस्कर। लेकिन इन हवाओं में पाँव उखड़ जाएँ तो फिर रोहतांग दर्रे पर संस्कृति का शव ही शव रह सकता है। जीवन और स्पंदन नहीं, और रोहतांग के पार जाना-आना नहीं। और जब जीवन ही नहीं, अपना अस्तित्व नहीं, अस्मिता नहीं तो संस्कार या संस्कृति कहाँ?

9. तो संक्षेप में हिमालयी संस्कृति के ये प्रश्न सूझते हैं। ये पुराने भी हैं और नये भी। इन प्रश्नों को यथाभूत, यानी जस-का-तस देखने से इनके समाधान भी इनमें से उगते हैं। इनके कोई गढ़े-गढ़ाये नुस्खे या नमूने नहीं। कम से कम मेरे पास तो

हरगिज नहीं। और एक नुस्खा है भी नहीं। ये तो इतने ही विविध हैं जितने कि हिमालय के भिन्न-भिन्न क्षेत्र और संस्कृतियाँ, समस्याएँ, सम्भावनाएँ। जैसे ये भिन्न-अभिन्न हैं वैसे ही इनके समाधान या असमाधान। क्योंकि एक हद के बाद तो भव, होना, ही दुख है; वह अकारण नहीं, और निर्वाण है, और उसका मार्ग है किन्तु मार्ग और निर्वाण का कोई निश्चित तार्किक क्रम नहीं है।

* 'हिमालयी संस्कृति : समस्याएँ एवं सम्भावनाएँ' विषयक परिसंवाद, शिमला, 3-7 अक्टूबर 1989 में प्रस्तुत पत्र के आधार पर प्रस्तुत।

हिमालयी समाज में समसामयिक परिवर्तन के विश्लेषण के लिए देखें : इंटरनेशनल असोसिएशन ऑव बुद्धिस्ट स्टडीज के चौथे सम्मेलन, मेडिसन (विस्कांसिन राज्य, संयुक्त राज्य अमेरिका), 1981 में प्रस्तुत 'कटेपरी चेंजेज एंड द हिमालयन बुद्धिस्ट्स' शीर्षक शोध-निबन्ध।

जाति-व्यवस्था का सच

शंकर शरण*

रोजा पार्क्स का नाम अधिकांश भारतवासियों के लिए अपरिचित है, किंतु अमेरिका में उन्हें सब जानते हैं। दो वर्ष पहले ही उनका निधन हुआ और *टाइम मैगजीन* ने पूरे पृष्ठ की तस्वीर छापते हुए उन्हें श्रद्धांजलि दी थी। रोजा एक अश्वेत (नीग्रो) अमेरिकी थीं, जिन्होंने आज से बावन वर्ष पहले एक इतिहास रचा। उस समय तक अमेरिका में अश्वेतों पर कई तरह की कानूनी वर्जनाएं थीं। जैसे, सार्वजनिक बसों में श्वेत लोगों के लिए सुरक्षित सीटों पर वह नहीं बैठ सकते थे। 1955 में रोजा वह पहली अश्वेत महिला बनी जिसने एक दिन उस नियम का खुले-आम उल्लंघन किया। शेष इतिहास है, क्योंकि उसके बाद अमेरिका में हुए राजनैतिक-वैचारिक मंथन ने उस नियम को समाप्त कर दिया।

कृपया ध्यान दें, भारत में उससे पहले ही किसी के लिए ऐसी कोई कानूनी वर्जना न थी। 1950 में देश का संविधान लागू हुआ जिसमें किसी भी भेदभाव का कोई स्थान न था। देश के कुछ हिस्सों में जो अस्पृश्यता प्रचलित थी, वह पहले से ही तोड़ी जाती रही थी। वह बुराई भी एक सीमित हिस्से तक सीमित थी, और उसकी सामाजिक मान्यता भी निर्विवाद नहीं थी। संविधान ने उसके अवशेषों को भी समाप्त कर दिया। साथ ही, भारत की जाति-प्रथा का यही एक मात्र सच नहीं था। फिर भी आज भी भारत में जाति-व्यवस्था की निंदा अवश्य की जाती है, जब कि अमेरिका संबंधी विमर्श में रंग-भेद शायद ही कोई स्थान पाता है। क्या कारण है कि भारत की जाति-व्यवस्था की थोक भाव से निंदा होती है, जब कि इसके लिए ठोस आधार भी नहीं है?

बल्कि भारत में जातिवाद की भर्त्सना करने में हर तरह के लोग क्यों स्वर मिलाते हैं? ईसाई मिशनरी, यूरोपीय विद्वान, हिन्दू समाज-सुधारक, तबलीगी प्रचारक, वामपंथी प्रोफेसर, हर किस्म के राजनीतिक नेता, पत्रकार, चुनावी विश्लेषणकर्ता, घटिया सेफोलॉजिस्ट और इस चौतरफा निंदा से प्रभावित होकर वह सभी जो सामाजिक-राजनीतिक प्रश्नों पर राम-चर्चा करते हैं। आखिर विभिन्न पृष्ठभूमि, विचारों

*ए (बी सी) 3160, वसन्त कुंज, नई दिल्ली-110070

और हितों वाले यह देसी-विदेशी लोग हमारी जाति-व्यवस्था की दिन-रात क्यों छिछालेदर करते रहते हैं? यह पिछले तीन सौ वर्षों से भी अधिक समय से हो रहा है। यूरोपीय मिशनरियों, इस्लामी नेता से लेकर कथित हिंदूवादी नेता तक सभी इस जाति-व्यवस्था को क्यों कोसते हैं? सबके सब बस भारत का भला चाहते हैं, यह तो संदेहास्पद है। क्योंकि उसी निरंतरता और आवेग से अमेरिका या यूरोप में रंग-भेद की, या मुस्लिम देशों में गैर-मुस्लिमों के प्रति अपमानजनक कानूनों, प्रथाओं की कभी कोई निंदा-आलोचना नहीं होती। ऐसा क्यों?

और यह तब, जब कि भारत में तथाकथित जातीय भेद-भाव कहीं हिंसा या जुल्म के रूप में अपवाद स्वरूप ही सुनने में आता है। इसके उलट अमेरिका में रंगभेद आज भी गहरा है। हॉलीवुड की फिल्मों से भी इसकी साफ झलक देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए *डार्क हार्ट विथ वेंजिअंस* (1995), *मैक्सिम रिस्क* (1996) या *बुलवर्थ* (1998) नामक फिल्में देखें। यह बड़ी हिट, हाल की फिल्में हैं, जिन्हें अंग्रेजी सिनेमा के टी.वी. चैनलों पर प्रायः देखा जा सकता है। ध्यान रहे, ये फिल्में रंग-भेद समस्या पर नहीं, बल्कि भिन्न विषयों की हैं। किंतु इनमें चलते-चलाते विभिन्न प्रसंगों में वर्तमान अमेरिकी शहरों में श्वेत-अश्वेत समुदाय के बीच के संबंधों की प्रामाणिक झलक सहज ही मिल जाती है। श्वेत-अश्वेत समुदायों की अलग-अलग कॉलोनियां, आपसी घृणा, अविश्वास तथा खूनी संबंध। अश्वेत बस्तियों में किसी श्वेत के चले आने मात्र से उस पर अकारण हिंसक हमले की संभावना निरंतर रहती है। यानी पूरी दो अलग दुनिया! आज तक अमेरिका में कोई अश्वेत राष्ट्रपति नहीं हुआ है। यहां तक कि कोई श्वेत महिला भी नहीं। यह संयुक्त राज्य अमेरिका की वर्तमान स्थिति है।

मानवीय गरिमा और समानता की दृष्टि से मुस्लिम विश्व की स्थित और भी शोचनीय है। उदाहरणार्थ, सऊदी अरब में कट्टर सुन्नी वर्चस्व है। जहां शिया मुसलमानों को कोई राजनीतिक अधिकार नहीं है। वहां के वहाबी-सुन्नी उलेमा शियाओं का मुसलमान ही नहीं मानते। उन्हें ईसाइयों, यहूदियों और सेक्यूलरपंथियों की श्रेणी में रखते हुए अपना दुश्मन मानते हैं। वर्तमान सत्ताप्रमुख प्रिंस अब्दुल्ला जब उप-प्रधान मंत्री थे तो इसे उनका बड़ा साहसिक कदम समझा गया था कि उन्होंने शिया मुसलमानों का दुःखड़ा सुना। सन् 2003 में अब्दुल्ला ने 'घर में साझेदारी' शीर्षक शियाओं का प्रार्थना-पत्र विचार के लिए स्वीकार किया, तो सऊदी अरब का उलेमा वर्ग अत्यंत नाराज हुआ था। वहां के प्रमुख मौलाना नासिर अल-उमर ने मांग की कि शियाओं को हरेक पद से अविलंब हटा दिया जाना चाहिए। अतएव सऊदी अरब में शिया समुदाय, "व्यवस्थित, आधिकारिक, कानूनी रूप से भेदभाव का शिकार है"।¹ यह कोई अपवाद भी नहीं। पड़ोस के पाकिस्तान में शिया-सुन्नी हिंसा में प्रत्येक वर्ष औसतन साढ़े तीन सौ व्यक्ति मारे जाते हैं।² यदि इन देशों में शिया मुसलमानों की

यह दशा है तो उन्हीं की शब्दावली में 'काफिरों' अर्थात् गैर-मुसलमानों की दुर्गति की आसानी से कल्पना की जा सकती है।

इस प्रकार, अमेरिकी तथा अरब समाजों में विभिन्न मानव समुदाय के बीच संबंधों की यह झलक देखने के बाद उससे भारत में जातिगत संबंधों की तुलना करें। शहरों में तो आर्थिक हैसियत के अतिरिक्त किसी आधार पर किसी को किसी से अलग देख पाना असंभव है। जातिगत आधार पर दैनंदिन सामाजिक जीवन में स्वतः कोई भेद देख पाना तो और भी दुष्कर है। स्थाई आपसी घृणा या बेबात हिंसा का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। सच तो यह है कि वर ढूंढने तथा विवाह-संबंध तय करने के विषय के अतिरिक्त हमें कभी किसी की जाति जानने की जरूरत तक नहीं आती। हम बरसों तक अपने सहकर्मियों, पड़ोसियों, मुहल्ले के दुकानदारों, तरह-तरह की सेवा देने वालों, कारीगरों, मिस्त्रियों, कर्मचारियों, आदि के संसर्ग में बने रहते हैं, बिना यह जाने कि उनकी जाति क्या है। गांवों में यदि जातियों के अलग मुहल्ले भी हैं तो उसका रूप शहर की कॉलोनियों की तरह ही 'अलग' होता है, उससे भिन्न नहीं। यदि श्रेष्ठता या हीनता का भाव आता भी है, तो उससे भी कम जितना दिल्ली में ग्रेटर कैलाश और मदनगरी की 'अलग' कॉलोनियों में रहने वाले लोगों के मन में कभी आता है। गांवों में भी जाति के आधार पर ऊंच-नीच की भावनाएं कभी-कभार ही सार्वजनिक या उग्र रूप लेती हैं। यदि आरक्षण वाले राजनीति-प्रेरित आंदोलनों या चुनावों को छोड़ दें तो स्वतः कोई झगड़े नहीं हैं।

यदि इस संपूर्ण परिदृश्य की तुलना अमेरिकी शहरों में श्वेत-अश्वेत समुदायों के बीच में संबंधों या पाकिस्तान, सऊदी अरब आदि देशों में मौजूद शिया-सुन्नी विरोध व नियमित हिंसा के रिकॉर्ड से करें तो भारत में जातिगत, 'उत्पीड़न' की बातें हास्यास्पद लगेंगीं। तब यह भी स्पष्ट होगा कि भारतीय समाज, विशेषकर हिन्दू समाज और हिन्दू धर्म की अवमानना करने में सत्य-असत्य का भेद ही नहीं, बल्कि हरेक अनुपात-बोध तक छोड़ दिया जाता है। क्या यह विचारणीय नहीं है कि भारत में संपूर्ण अकादमिक, राजनीतिक, समाजशास्त्रीय विमर्श में केवल इसी जाति 'समस्या' का रोना सदैव रोया जाता है, और जो लेखक, पत्रकार, नेता, प्रचारक, सुधारक आदि नित्य ऐसा करते हैं, वे कभी इस्लामी, पश्चिमी, अमेरिकी समाजों में रंग-भेद, उत्पीड़न, वंचना आदि पर कभी प्रवचन नहीं देते? हमारे बुद्धिजीवी शरीयत और उलेमा के स्त्री-संबंधी फतवों, या कैथोलिक चर्च की अहंकारी एक्लिवास्टिकल घोषणाओं पर कभी बहस नहीं करते जो अपनी मध्ययुगीन जिदों को खुले-आम प्रचारित करती हैं।

यदि किसी को लगता हो कि आज भारतीय समाज में जातिगत संबंधों की स्थिति कुछ सुधर-बदल गई है और सत्तर-अस्सी साल पहले तक बड़ी खराब थी, तो वह भी सच नहीं। प्रेमचंद और रेणु की कहानियों, उपन्यासों से उत्तर प्रदेश और बिहार के गांवों में जातीय संबंधों की तरह-तरह की जीवंत तस्वीरें मिलती हैं। जातिगत

आधार पर शोषण-उत्पीड़न ही एकमात्र सत्य नहीं था। किसी लोभी महाजन के हाथों दरिद्र ब्राह्मण या कुर्मी किसान भी उतना ही शोषित होता था। दूसरी ओर, कथित निम्न जातियों में भी समृद्ध, प्रभावशाली व्यक्ति होते थे, जो उच्च जाति के लोगों को मैनेजर, लेखापाल, कर्मचारी आदि रूप में अपनी सेवा में नियुक्त रखते थे। रेणु की कहानियों में बिहार के गांवों में जातियों की तस्वीर ईर्ष्या-द्वेष के साथ-साथ कुल मिलाकर सहयोग, सामंजस्य की भी तस्वीर है। जातियों के बीच ऊंच-नीच का भाव है तो प्रतिद्वंद्विता भी है, किंतु वह सामान्यतः कोई विषैली या हिंसक प्रतिद्वंद्विता नहीं है। बस अपने-अपने समुदाय को ऊंचा मानने, दिखाने की मानवोचित भावना। सबसे बड़ी सच्चाई यह कि उपनयन, विवाह, श्राद्ध आदि संस्कारों तथा पर्व-त्यौहारों के अवसर पर किसी भी जाति के घर के कार्य में दूसरी जातियों के लोगों के योगदान का सुनिश्चित स्थान रहता है।

अतएव, शहर या गांव, कहीं भी सिद्धांत-व्यवहार में एक जाति दूसरे के विरुद्ध हो, इसका कोई ठोस आधार ही नहीं मिलता। आगे बढ़ने, दिखने की प्रतिद्वंद्विता भी एक समान भाव का ही संकेत है। शास्त्र व लोक के सभी प्रमाण, तथा अनुभव दिखाते हैं कि हिन्दू समाज की जाति-व्यवस्था का सच वह नहीं जिस का रोना रोकर उसे निंदित किया जाता है। जिन छिट-पुट घटनाओं या स्थितिओं का उल्लेख कर जाति-संरचना की निंदा होती है, वह अपवाद और प्रायः राजनीति, वैयक्तिक या आपराधिक प्रसंग होते हैं। साथ ही यह भी ध्यान रखें कि जैसे समाचार ज्यादातर किन्हीं विशेष क्षेत्रों से ही आते हैं। विशाल भारत की संपूर्ण पृष्ठभूमि में देखें तो उन्हें अपवाद ही मानना होगा, नियम नहीं।

बिना पूर्वाग्रहों के विचार करें तो भारत में जातियां एक विस्तृत-परिवार-सी संस्था रही हैं। कोई अपने परिवार के व्यक्ति के लिए अधिक चिंता, या सहयोग का भाव रखता है, तो उसमें कुछ अस्वाभाविक नहीं माना जाता। जैसे कोई अपने बेटे या भांजे के लिए सुख-सुविधा की व्यवस्था करता है, तो ऐसा करना किसी दूसरे के विरुद्ध द्वेष नहीं माना जाता। उसी तरह अपनी जाति के व्यक्ति के प्रति कोई निकटता महसूस करना दूसरी जाति के व्यक्ति के प्रति द्वेष का प्रमाण नहीं। और जब तक विद्वेष नहीं, तो उसकी निंदा क्यों होनी चाहिए? जिस प्रकार अपने परिवार के प्रति अधिक जिम्मेदारी रखना पड़ोसी के प्रति कोई दुश्मनी रखना नहीं माना जाता, वही साधारणतया जाति-भावना की भी स्थिति है। हमारे देश में विभिन्न जातियों के लोगों के बीच के वैयक्तिक या सामूहिक संबंधों की विस्तृत पड़ताल इसके अलावा कोई और सामान्य निष्कर्ष नहीं देगी।

इस प्रसंग में शशि एस. शर्मा की पुस्तक 'इमेजिन्ड मनुवाद: द धर्मशास्त्राज् एंड देयर इंटरप्रीटर्स' (रूपा, 2005) पठनीय है। इसमें हिन्दू शास्त्रों, आख्यानों, टीकाओं, स्मृतियों की चर्चा करते हुए एक प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। जिस

मनुवाद की निंदा की जाती है, क्या वह कोई वाद भी है? क्या कभी किसी हिन्दू राजा या सम्राट ने मनुस्मृति को अपने शासन या कानून का आधार बनाया था? यदि नहीं, तब *मनुस्मृति* को सदैव 'हिन्दू कानून' क्यों कहा जाता है? फिर *मनुस्मृति* की निंदा करने वाले शायद ही उसे पढ़ते हैं। पढ़कर उसके प्रति नकारात्मक धारणा वैसे भी बदल जाएगी। जाति-व्यवस्था के बारे में *मनुस्मृति* की अधिकांश निंदा मनमानी कल्पनाओं और गढ़े गए तर्कों पर आधारित हैं। फिर, हिन्दू घरों में पाए जाने वाले सर्वसुलभ ग्रंथों में मनुस्मृति नहीं, बल्कि *रामायण*, *महाभारत*, *गीता*, *भागवत* आदि हैं। तब हिन्दुओं का केंद्रीय ग्रंथ *मनुस्मृति* कैसे बताया जाता है? यही नहीं, हमारे धर्मशास्त्रों में भृगु, याज्ञवल्क्य, आदि की असंख्य स्मृतियां हैं। किंतु केवल *मनुस्मृति* पर ही चर्चा क्यों होती है? इसलिए कि इसमें लिखी कुछ बातों को संदर्भ और काल से काटकर दुरुपयोग किया जा सकता है, अन्य स्मृतियों, शास्त्रों, पुराणों का नहीं। शशि एस. शर्मा की यह पुस्तक पूरे विषय पर नए तरह से सोचने के लिए विवश करती है।

भारत में जातियां सदैव कार्य-आधारित और एक-दूसरे की पूरक रही हैं। जन्मना भी उसी रूप में, जैसे परिवार की अगली पीढ़ी वही कार्य चुनती है। इस तरह जातियां गतिशील रही हैं और उनमें ऊंच-नीच का स्थापित भेद नहीं रहा है। जो जिस काम और जाति को उपयुक्त समझते हैं, उसे जारी रखने में कोई अस्वाभाविकता नहीं देखते। एक अर्थ में वही बात आज भी है। नेता का पुत्र नेता, अभिनेता का पुत्र अभिनेता, व्यापारी का व्यापारी, डॉक्टर की संतान डॉक्टर, उद्योगपति के बेटे उद्योगपति हो ही रहे हैं। क्या इनमें से सभी अपने-अपने कामों के प्रति सहजता या सम्मान का भाव नहीं रखते? क्या ऐसा कहा जा सकता है कि एक डॉक्टर किसी व्यवसायी से विद्वेष का भाव रखता है, इसीलिए वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपनी संतान को अपने ही पेशे में रखता है? किसी काम को ऊंचा या नीचा समझने की भावना ही पश्चिमी धारणा है, जिसे भारतवासियों की चेतना पर आरोपित करके उन में जबरन अपराध-बोध भरा जाता रहा है।

कृपया ध्यान दें और स्वयं इसका परीक्षण करें कि भारतीय जाति-व्यवस्था में अस्पृश्यता जैसी विकृतियां बड़ी हाल की बात हैं। मुगल काल और विशेष कर ब्रिटिश काल में विभिन्न कारणों से किन्हीं जातियों को 'नीच' आदि घोषित किया और बनाया गया। भारतीय समाज के बारे में विदेशी अवलोकनकर्ताओं, यात्रियों, विद्वानों के विवरण कम-से-कम पिछले पंद्रह सौ वर्षों से मिलते रहे हैं। मेगास्थनीज, फाहियान, हुएन सांग, अल बरूनी जैसे सुप्रसिद्ध अवलोकनकर्ता विभिन्न शताब्दियों में लंबे-लंबे समय तक भारत में रहे। उनके अत्यंत विस्तृत विवरणों में कहीं भी जाति-विद्वेष, अस्पृश्यता आदि का कोई संकेत नहीं मिलता जिसका रोना रोकर हिन्दू धर्म की ऐसी-तैसी की जाती रही है। जाति व्यवस्था की विकृतियां मुख्यतः पिछले दो सौ वर्षों के बीच का प्रसंग है, वह भी पूरे भारत में उसका विस्तार न था। स्वयं ईस्ट इंडिया

कंपनी द्वारा 18-19वीं शताब्दी में कराए विस्तृत आकलनों में जाति-उत्पीड़न तो छोड़िए, विभिन्न जाति या कार्य-स्तरों के बीच हैसियत के भेद का भी कोई पता नहीं चलता। अंग्रेज सर्वेक्षकों को उनमें किसी हीन भाव का संकेत नहीं मिला था। यह उन्नीसवीं शती के आरंभ तक की स्थिति थी।

बंबई के गवर्नर रहे माऊंट स्टुअर्ट एलफिंस्टन ने अपनी पुस्तक *हिस्ट्री ऑफ इंडिया* में लिखा है कि भारत में जाति-व्यवस्था के प्रति यूरोपियनों की समझ अत्यंत भ्रामक रही है। यह नितांत मिथ्या धारणा है कि हिंदू समाज की जाति-संरचना किसी व्यक्ति की रचनात्मकता, महत्वाकांक्षा या विकास में कहीं बड़ी बाधा बनती थी। एलफिंस्टन ने नोट किया है कि भारतीय समाज में किसी भी जाति का व्यक्ति समाज में सब से महत्त्वपूर्ण राजकीय पदों तक भी पहुंचता रहा है। जातियां थीं, किंतु उनके सदस्य नितांत गतिशील, मुक्त और सम्मान से युक्त थे। इसमें जाति सहायक थी, बाधक नहीं। जाति-समाज की वर्जनाएं, आचरण और मर्यादाओं के पालन के लिए थीं, किन्हीं जड़-कुरीतियों के नहीं। एलफिंस्टन के अनुसार भारतीय इतिहास में ही नहीं, बल्कि समकालीन भारतीय समाज में भी यह कोई अपवाद नहीं, बल्कि सामान्य स्थिति थी। एलफिंस्टन के शब्दों में :

जाति-व्यवस्था किसी व्यक्ति के उद्यम में बाधा डालने की कोई बड़ी भूमिका नहीं निभाती थी जैसा यूरोपीय लेखक आदतन मान लेते हैं। सच तो यह है कि दुनिया में शायद ही कोई अन्य भू-भाग है जहां व्यक्ति की परिस्थितियों में इतना आकस्मिक और प्रत्यक्ष परिवर्तन होता हो जितना भारत में होता है। विभिन्न समय में अंतिम पेशवा राजाओं के दो प्रधानमंत्री थे, जिनमें एक पहले कोई पुरोहित या मंदिर में गायक था (दोनों ही निम्न कोटि के रोजगार माने जाते थे), और दूसरा एक शूद्र था, और पहले कहीं साधारण कोचवान था। जयपुर के राजा का प्रधानमंत्री एक नाई था। वर्तमान होल्कर राजवंश का संस्थापक एक गड़ेरिया था और सिंधिया राजवंश का संस्थापक भी एक मामूली नौकर था, दोनों ही शूद्र थे। मराठा राज्य का प्रसिद्ध रस्तिया परिवार पहले ब्राह्मणों के परंपरागत पेशे में था, फिर वे बहुत बड़े बैंकर बने, और फिर बड़े सैनिक कमांडर। स्थितियों में परिवर्तन और वृद्धि-विकास के और अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। निजी जीवन में भी पेशागत परिवर्तनों के उदाहरण भी कम नहीं हैं।³

अतः जातियां किसी व्यक्ति के वैयक्तिक, सामाजिक विकास में बाधा बनती हैं या प्रतिभा को कुंठित करती हैं, यह हिन्दू-विरोधी दुष्प्रचार है। इस मिथ्या धारणा को ईसाई मिशनरियों एवं ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने गढ़ा था और जिसे बाद में मार्क्सवादियों, समाजवादियों तथा हर प्रकार के हिन्दू-द्वेषियों ने भरपूर प्रचारित किया।

सच तो यह है कि जिस सामाजिक ठहराव के लिए जाति-व्यवस्था को दोष दिया जाता है, वह तो स्वयं ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की देन है। ब्रिटिश शासन ने यहां अपनी सत्ता सुदृढ़ करने और अधिकाधिक शोषण-दोहन के लिए हिन्दू समाज की सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं को निर्मूल करने की सचेत नीति अपनाई थी। प्रतिभाओं को कुंठित करने का काम तो विशुद्ध ब्रिटिश देन थी। याद करें, अंग्रेजी राज में अत्यंत योग्य भारतीय भी डिप्टी कलक्टर से ऊपर नहीं जा सकता था। वायसराय की सर्वोच्च समिति में वी.पी. मेनन पहले भारतीय थे जिसे किसी विभाग का सचिव पद मिला था, वह भी जब यहां ब्रिटिश राज अपने अंतिम दिन गिन रहा था। तब भी अंग्रेज सचिवगण मेनन को बराबर का सम्मान नहीं देते थे, जिनसे मेनन वस्तुतः अधिक के हकदार थे।

भारत में जाति-व्यवस्था यदि किसी चीज को रोकती थी, तो वह थी योग्यता-विहीन महत्वाकांक्षा। आज हमारे राजनीतिक प्रशासनिक जीवन में अयोग्य लोगों की जो बेशुमार पदोन्नति देखी जा रही है, वह जाति-व्यवस्था वाले भारत में कभी नहीं थी। वह व्यवस्था शांति, सहयोग, न्याय के साथ स्वस्थ प्रतियोगिता को बढ़ावा देती थी, अन्याय, लोभ और उच्छ्रंखलता को नहीं। इस अर्थ में यदि हम जाति-व्यवस्था से कुछ सीख लें तो अधिक उपयुक्त हो।

सच यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी तक भी सामाजिक व्यवस्था में हिन्दू भारत यूरोप से कई गुणा श्रेष्ठ था। यूरोपीय दृष्टि में मनुष्य को सदैव ऊंच-नीच, स्वामी-दास, नोबल-जेंट्री तथा डर्टी-प्लेबियन में विभक्त देखा गया। सेंट ऑगस्टाइन से लेकर हॉब्स, लॉक, रूसो, बेंथम, मिल, मार्क्स, आदि तक के सामाजिक चिंतन से इसकी पुष्टि होती है कि सभी मनुष्य की समानता उनके लिए नई और कठिनाई से स्वीकार होने वाली भावना थी। उन्नीसवीं शती के अंत तक इंग्लैंड में नब्बे प्रतिशत लोग सहज रूप से 'लोअर ऑर्डर' के माने जाते थे। उन्हें नागरिक तक नहीं समझा जाता था। वहां नौकरों को पीटने, पीट-पीट कर मार डालने का भी चलन था। ऐसा करने को कोई अपराध तक नहीं समझा जाता था। सैनिकों को मामूली भूल पर भी सैकड़ों कोड़े से पीटने का चलन था। इसकी तुलना में देखें तो भारत में मुसलमानी राज्य में भी नौकरों आदि को पीटने जैसे अपमानजनक चलन नहीं थे।

अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में कराए गए ब्रिटिश सर्वेक्षणों में इस बात पर निराशा व्यक्त की गई कि भारत में उच्च वर्गीय और निम्न वर्गीय लोगों जैसा कोई भेद खोजना मुश्किल होता है। यहां धनी, उच्च-वर्गीय लोगों के रहन-सहन, पोशाकें और तौर-तरीके भी प्रायः ऐसे विशिष्ट नहीं होते थे कि उन्हें देखते ही सामान्य जनों से भिन्न समझा जा सके। यहां सामान्य जन को किसी से अपने 'नीचे' होने का बोध नहीं था। जिस जाति-व्यवस्था का इतना रोना रोया जाता रहा है, तो दो सौ वर्ष पहले के ब्रिटिश अध्ययनों में इसकी बिलकुल विपरीत झलक मिलती है। जातियों के

रहन-सहन, शिक्षा, आर्थिक, सामाजिक स्थिति में कोई बड़ा भेद न था। न ही जातियों का अंग होना ही एक-मात्र सामाजिक संबंध था। जाति के अतिरिक्त दूसरे अनेक संसर्ग होते थे जहां विभिन्न जाति के लोग मिलकर काम-काज करते थे। अर्थात् जातियों के संबंध परस्पर सहयोग के थे, न कि ऊंच-नीच के। राज्यकर्म या राजा होना भी किसी जाति का एकाधिकार न था। राजाओं का जीवन भी अत्यंत वैभवशाली या विलासी नहीं होता था। सब के बीच मोटे तौर पर सहयोग और सामंजस्य के संबंध थे।

राजकीय, प्रशासकीय कार्यों और सामाजिक रीति-रिवाजों में सब जातियों के अपने महत्त्वपूर्ण स्थान थे। इन जातियों की अपनी छवि सम्मान की थी, जिसे किसी अन्य जाति की अपनी स्वयंभू उच्चता की समझ से कोई अंतर नहीं पड़ता था। (जैसे यदि कोई डॉक्टर अपने को व्यापारी से ऊंचा समझे तो व्यापारी को इससे शायद ही परवाह हो)। सन् 1770 का एक दस्तावेज है जिसे वारेन हेस्टिंग्स ने मद्रास से कलकत्ता जाने से पहले बनवाया था। उसमें ये जो आज दलित कहे जाने वाले लोग हैं, वे कह रहे हैं, “वी आर ग्रेट सोल्जर्स, वी आलसो मेक सैंडल्स।”⁴ यह आत्म-छवि सम्मान की है जिसमें कोई हीनता का बोध नहीं झलकता। दक्षिण भारत में तो गांव के झगड़े तय करने का कार्य पेरियार का था। उस के न्याय को चुनौती नहीं दी जा सकती थी। अठारहवीं सदी के दक्षिण भारत में कुल शिक्षितों में 80 प्रतिशत गैर-ब्राह्मण थे।⁵ यह हिन्दू भारत की जाति-संरचना आधारित समाज की सहज तस्वीर थी।

वस्तुतः भारत में यह स्वयं अंग्रेज महाप्रभु ही थे जिन्होंने पहली बार जातियों का ‘शिड्यूल’ बनाकर ऊंच-नीच का स्थाई भेद गढ़ने, इस प्रकार एक गतिशील जाति-व्यवस्था को जड़-रूढ़ि में बांधने का काम किया। बाद में उसी को हिंदू समाज की अपनी विकृति बताकर दुनिया भर में प्रचारित, निंदित करने का अभियान चलाया गया। धर्मपाल ने ऐतिहासिक दस्तावेजों के अध्ययन से लिखा है कि भारत ने अस्पृश्यता पिछले दो-तीन सौ सालों से ही रही है। ‘दलित’ या ‘शिड्यूल्ड कास्ट्स’ शब्दावली ही हमें अंग्रेजों से मिली है, जो अभी सौ वर्ष पहले तक नहीं थी। अतएव हमारे ऊपर जो ऊंच-नीच अंग्रेजों ने गढ़कर थोपा, उसे हिंदू धर्म का अंग बताकर प्रचारित किया गया। हिंदू धर्म की तुलना में ईसाइयत और इस्लाम को समतावादी बताया गया। उदाहरण के लिए, कैथरीन मेयो ने अपनी पुस्तक में हिंदू धर्म की कुत्सित आलोचना की और इस्लाम को प्रगतिशील बताया। तब डॉ. भीमराव अंबेडकर ने उसे मिथ्याचार बताने में संकोच नहीं किया था। कैथरीन ने कहा था कि हिंदू धर्म में सामाजिक विषमता है, जब कि इस्लाम में भाईचारा है। अंबेडकर ने इसका खंडन करते हुए कहा कि इस्लाम गुलामी और जातिवाद से मुक्त नहीं है। बंगाल के मुसलमानों का सामाजिक विश्लेषण करते हुए उन्होंने यह सविस्तार प्रमाणित किया।

डॉ. अंबेडकर ने यह भी कहा कि, “हिंदुओं में सामाजिक बुराइयां हैं। किंतु एक अच्छी बात है कि उनमें उसे समझने वाले और उसे दूर करने में सक्रिय लोग भी हैं। जबकि मुस्लिम यह मानते ही नहीं कि उनमें बुराइयां हैं और इसलिए उसे दूर करने के उपाय भी नहीं करते।”⁶

कुछ लोग कहते हैं कि भारतीय मुसलमानों में जाति-व्यवस्था हिन्दू धर्म के संसर्ग से आई ‘विकृति’ है। इसीलिए भारत और पाकिस्तान में मुसलमानों के बीच भी तीखा जाति-भेद है। सैयद, शेख और पठान अपने को ऊंचा मानकर जुलाहों, अंसारियों के साथ विवाह-संबंध आदि स्थापित नहीं करते। जबकि इस्लाम मूलतः समता का दर्शन है, जहां भेद-भाव का स्थान ही नहीं है, आदि। यह भी एक भ्रामक धारणा है। प्रो. हरबंस मुखिया एक नामी मार्क्सवादी इतिहासकार हैं, जिनका इस्लाम के प्रति पक्षपात प्रत्येक सीमा पार कर जाता है। उन्होंने इस्लाम के आरंभिक काल का ही खलीफा मामून द्वारा जारी एक फरमान उद्धृत किया है। उस फरमान में किसी समाज के निचले तबकों से धर्मांतरित हुए मुसलमानों को ‘कुत्ते’, ‘सुअर’ और ‘भालू’ की संज्ञा दी गई है। साथ ही यह हिदायत भी कि ऐसे मुसलमानों को, “क्षुद्र, नीच और निकम्मे लोगों को, दुकानदारों और नीच कुल वालों को नमाज, रोजे वगैरह के अहकाम के अलावा और कुछ नहीं पढ़ाना चाहिए।”⁷ इससे इस्लामी परंपरा में समानता के कथित सिद्धांत पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

फिर भी, ईसाई और इस्लामी समाजों के सिद्धांत, व्यवहार, परंपरा और मतवादों के साथ कोई सत्यनिष्ठ तुलना करके कभी बात नहीं की जाती। प्रत्येक स्थिति में हिन्दू धर्म को हर तरह से और किसी भी तरह से नीचा दिखाने के लिए तरह-तरह के दुष्प्रचार आज भी चल रहे हैं। यह सब सचेत रूप से हो रहा है कोई अनजाने नहीं। हाल में एक बड़े अंतर्राष्ट्रीय प्रकाशन संस्थान ने किन्हीं विष्णुपद चक्रवर्ती द्वारा लिखित एक *रामायण* प्रकाशित की है, जिस में हनुमान लंका में रावण की कैद में स्थित सीताजी से कहते हैं, “माता! राम ने आपके वियोग में शोकग्रस्त होकर शराब पीना और मांस खाना त्याग दिया है।”⁸ यह वही प्रकाशन है जिसने ‘टाइम्स ऑफ इंडिया’ के लब्ध-प्रतिष्ठित संपादक और प्रखर विद्वान गिरिलाल जैन तक की पुस्तक छापने से इनकार कर दिया था। अन्य हिन्दू विद्वानों की बात ही क्या। भारत में ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, केंब्रिज, पैग्विन, वाइकिंग आदि बड़े प्रकाशनों की समाज विज्ञान संबंधी पुस्तकों का ध्यान से अवलोकन करें। उनमें हिन्दू-निंदा और खुले- छिपे भारत-विरोधी लेखन का लगभग एकाधिकार है। उनका मुख्य स्वर यहाँ राष्ट्रीय विखंडन को प्रोत्साहित करना और भारत की सामाजिक-सांस्कृतिक एकता से तरह-तरह से इनकार करना मात्र है। इसीलिए उन प्रकाशनों से हर तरह के नौसिखुए रंगरूतों तक की पुस्तक प्रकाशित हो सकती है, जो उस स्वर में स्वर मिलाते हों। किन्तु जैन, रामस्वरूप या धर्मपाल जैसे गंभीर चिंतकों की नहीं। इसी प्रवृत्ति की नकल भारतीय

प्रकाशक भी करते हैं। इस प्रकार, कई विधियों से आज भी बाहरी, साम्राज्यवादी शक्तियां भारत में बौद्धिक विमर्श को मनचाही दिशा में रखती हैं। इस पैटर्न और तकनीक को पहचानें!

वस्तुतः जो बातें इस लेख में कहीं गई हैं, वह हमारे बड़े चिंतकों एवं समर्थ विद्वानों द्वारा पहले भी कई बार कही जा चुकी हैं। स्वामी विवेकानंद से लेकर श्री अरविंद, महात्मा गांधी, रामस्वरूप, अज्ञेय, धर्मपाल से लेकर शशि एस. शर्मा तक ऋषि, मनीषी, लेखक, बड़े-छोटे शोधकर्ता इस ओर ध्यान दिलाते रहे हैं। तब भी इन बिंदुओं पर हमारे इतिहासकार, बुद्धिजीवी, पत्रकार कभी विचार क्यों नहीं करते? क्योंकि ऐसे विचार-बिन्दु रोचक, सामयिक और राष्ट्रीय महत्त्व के होते हुए भी विभिन्न विदेशी दाताओं, अमेरिकी, यूरोपीय, मिशनरी प्रयोजकों, एजेंसियों के लिए पूरी तरह नापसंद, एकदम 'नो' 'नो' हैं। यदि आप किन्हीं 'दलित', 'ट्राइबल', 'हिन्दू वीमेन', आदि पर वास्तविक, काल्पनिक अन्याय, अत्याचार, अलगाव को उभारें, अथवा 'हिन्दू फासिज्म', 'हिन्दू ओक्सक्योरेंटिज्म' आदि की छीछालेदर करें तो वह सब 'हॉट' विषय हैं। धनी प्रायोजक और अंतर्राष्ट्रीय प्रकाशक मिलते देर नहीं लगेगी। किंतु यदि आप भारतीय राष्ट्रवाद की किसी समेकित धारणा, देशी भावना, देशी हिन्दू चिंता पर काम करना चाहते हैं, तो सब ओर से हतोत्साहित किया जाएगा। क्या यह किसी अज्ञान में, अथवा अनजाने हो रहा है?

इसमें संदेह नहीं कि ईसाई मिशनरियों, इस्लामी तबलीगियों, मार्क्सवादियों क्रांतिकारियों, समाजवादी महानुभावों और लिबरल मानवाधिकारियोंसबको हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था से स्थाई और घोर शिकायत रही है। उन का एक ही कारण दिखता है। वह यह कि जातियों की सामाजिकता व आपसी पूरकता ने उन्हें सभ्यतागत संकटों, बाहरी आक्रमणों को झेलने की, झेलकर भी बचे रहने की शक्ति दी। इसीलिए भारत न तो इस्लाम द्वारा पूरी तरह धर्मान्तरित कराया जा सका, न ईसाई मिशनरियों द्वारा, न विश्व-क्रांतिकारियों द्वारा। यह विश्व के अन्य भूभागों से बिलकुल भिन्न स्थिति थी जहां व्यक्ति और उसका परिवार प्रायः अकेला था (चार्ल्स डिकेंस या दास्ताएवस्की के उपन्यास पढ़कर यूरोपीय व्यक्ति की स्थिति की झलक पाई जा सकती है।) इसलिए उसे बरगलाना, डराना, तोड़ना, तथा अंततः धर्मान्तरित कर लेना तुलनात्मक रूप से बड़ा आसान रहा। भारत में जातियों की विस्तृत परिवार वाली भूमिका ने व्यक्ति, समूह और समाज को शक्ति दी कि वह साम्राज्यवादी विचारधाराओं, शक्तियों के मजहबी, वैचारिक, राजनीतिक प्रहारों को झेल सके। कमजोर, अपंग होकर भी बचा रह सके। सब प्रकार के बाहरी विस्तारवादियों, साम्राज्यवादियों, तथा उनके अंधभक्त हमारे अपने अहंकारी, उच्चवर्गीय, पश्चिम-परस्त, अंग्रेजीदौ बौद्धिकों द्वारा भारत की जाति-व्यवस्था पर निरंतर चोट का यही सर्वप्रमुख कारण है।

संदर्भ टिप्पणियां

1. ग्राहम ई. फुलर तथा रेंड रहीम फ्रैंक, द अरब शिया: द फॉरगॉटन मुस्लिम्स (न्यूयार्क: सेंट मार्टिन प्रेस, 1999), पृ. 183.
2. मुजप्फर हुसैन, "मुस्लिम जगत की अजब दास्तान: शिया बनाम सुन्नी", पांचजन्य साप्ताहिक, नई दिल्ली, 19 सितंबर 2005.
3. नीरद सी. चौधरी द्वारा उद्धृत, "डिपॉजिट्स ऑफ टाइम", द कान्टिनेंट ऑफ सर्स: बीइंग एन एस्से ऑन द पीपुल ऑफ इंडिया (लंदन चट्टो एंड विडुस, 1965), पृ. 61.
4. धर्मपाल, भारत की पहचान (मसूरी: सोसाइटी फॉर इंटीग्रल डेवेलपमेंट, 2003), पृ. 16-17.
5. वही, पृ. 33.
6. डॉ. अंबेडकर की विरासत के इस पक्ष को आज कोई स्थान नहीं दिया जाता। क्योंकि दलित-विमर्श को तरह-तरह के विदेशी, संदिग्ध, ईसाई मिशनरी संगठनों ने हाई-जैक कर लिया है। वे डॉ. अंबेडकर का केवल नाम लेते हैं, और वास्तव में विशुद्ध मिशनरी, हिन्दू-विरोधी वैचारिक-निर्मितियों को प्रचारित करते हैं। आज के कथित बौद्ध दीक्षा-समारोहों में और उनके उपरांत जो बातें कही जाती हैं, उन पर ध्यान दें। वह उसके नितांत विपरीत हैं जो डॉ. अंबेडकर ने स्वयं बौद्ध धर्म की दीक्षा लेते हुए स्पष्ट रूप से कही थीं। अंबेडकर ने नाम लेकर ईसाइयत और इस्लाम को खारिज करते हुए बौद्ध धर्म अपनाया था, जब कि आज दलितों को मिशनरी आर्थिक सहयोग से बौद्ध बनाया ही इसलिए जाता है ताकि 'अगले चरण' में उन्हें ईसाई बनाया जा सके। देखें, डॉ. भीमराव अंबेडकर, "ऑन द ईव ऑफ ग्रेट कनवर्सन", भगवान दास (सं.) दस स्पोक अंबेडकर: सेलेक्टेड स्पीचेज, वॉल्यूम II (जालंधर: भीम पत्रिका पब्लिकेशंस, 1969).
7. हरबंस मुखिया, "मध्यकालीन भारतीय इतिहास और सांप्रदायिक दृष्टिकोण"। रोमिला थापर, हरबंस मुखिया और बिपिन चंद्र, सांप्रदायिकता और इतिहास लेखन (नई दिल्ली: पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस, 1970), पृ. 36.
8. विष्णुपद चक्रवर्ती, द पेंग्विन कंपैनिन टु द रामायणा, देवयानी बनर्जी द्वारा बंगला से अनूदित (नई दिल्ली: पेंग्विन, 2006), पृ. 56.

*We Strive
to Satisfy
Our Customers*

VASUNDHARA MARKETING CO.

Sales Tax No. LC/13/017261/1080
☎ 3277883 (Off.)

Regd. Office
**1/3575, Netaji Subhash Marg
Darya Ganj, New Delhi-110002**

आलोचना का स्त्री पक्ष और स्त्रीत्व का आख्यान

रमेश दवे*

स्त्रीत्व और स्त्री का आख्यान जैसा विषय यदि कोई विमर्श या बहस पैदा करता है तो क्या यह मान लिया गया है कि स्त्री देह से, दिमाग से, आचरण से इतनी दुर्बल है कि उसे नये संदर्भों में, नई छवि और नए बल के साथ परिभाषित, व्याख्यायित करते हुए उसके अस्तित्व की पहचान आख्यान में खोजना जरूरी है? स्त्री एक सम्पूर्ण मनुष्य है ठीक पुरुष की ही तरह। लेकिन जब भी स्त्रीत्व की खोज की जाती है, सारी दुनिया उसे आजकल तीन शब्दों के जरिए खोजने पर उतारू है

1. लिंग 2. काम/सेक्स और 3. समानता।

समानतावादियों के आग्रह इतने जबरदस्त हैं कि पक्ष में उसे स्थापित करने के लालच में वे सामाजिक संतुलन के आवश्यक तत्वों की भी अनदेखी कर देते हैं। आधुनिक समाज में स्त्री ने जब सर्जनात्मक दस्तक दी तो स्त्री की पहचान खोजी जाने लगी और पहचान भी उसे करा दी गई? ऑस्कर वाइल्ड ने कहा था

‘सभी लड़कियाँ अपनी माँ की तरह ही होना चाहती हैं। बस, यही उनकी त्रासदी है। पुरुष कोई भी ऐसा नहीं चाहता। वह स्वयं में स्वयं का रहना चाहता है।’ (इम्पोर्टेंस ऑफ बीइंग अर्नेस्ट, Importance of Being Earnest)

स्त्री को लेकर हमारी बातचीत का दायरा इतना सीमित हो गया है कि हम दस-बीस शब्दों की शब्दावली में पूरे स्त्रीत्व और उसके आख्यान को सीमित कर देना चाहते हैं। क्या बलात्कार, यौन-उत्पीड़न, स्त्री-अंग और उनकी कोमलता, उसकी देहयष्टि, उसका कार्य स्थल पर देह-शोषण, दहेज प्रताड़ना, दुल्हन-दहन, काल-सेप्टर, सेक्सशॉप, सेक्सवर्कर आदि शब्दों से बाहर ले जाकर हम स्त्री का कोई नया आख्यान नहीं रच सकते? शब्दों के दोहरावों और क्लीशे से भरा स्त्रीत्व न केवल अपनी नई सर्जनात्मक छवि की तलाश में है बल्कि जिन शब्दों को सुन-सुनकर ऊब पैदा होने लगी है, उन शब्दों की ऊब से भी एक सर्जक को ही स्त्री को मुक्त करना होगा।

* डॉ. रमेश दवे, अध्यक्ष, मध्य प्रदेश, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, भोपाल

स्त्री को शक्ति के रूप में देखना एक विचार हो सकता है लेकिन बराबरी से देखना क्या स्त्री के हीनताबोध को बढ़ाना नहीं है? वह बराबर क्यों हो, बेहतर क्यों न हो, उसका लेखन बराबरी का क्यों हो बेहतर क्यों न हो, यह विचार भी रचना होगा। बराबरी का तर्क देकर क्या हम उसकी श्रेष्ठता और संभावना को सीमित नहीं कर देते?

वर्जीनिया वुल्फ ने अपनी एक पुस्तक 'ए रूम आफ वन्स ऑन' (1929) में स्त्री लेखन को लेकर जो आरोप तत्कालीन समीक्षकों ने लगाए थे, उनका जिन्न करते हुए उनका प्रतिकार किया था। आरोप थे कि स्त्रीत्व और स्त्री-लेखन

पेरोकियल यानी संकीर्ण है

घरेलूपन की घटनाओं से घिरा हुआ है।

पितृ-सत्तात्मक प्रभावों और विचारों से आच्छन्न है।

पुल्लिग विषय अधिक गंभीर और सशक्त होते हैं; और

स्त्रीलिंग विषय हल्के या क्षुद्र होते हैं।

इन आरोपों के औचित्य में कहा जाता था कि पुरुष लेखक द्वारा किसी युद्ध क्षेत्र का वर्णन गृहस्थ-जीवन की दुकान के दृश्य से बेहतर है। वर्जीनिया वुल्फ ने इन आरोपों के उत्तर में कहा था कि अगर समूचा पुरुष लेखन किसी स्त्री के किसी एक अंग तक सिमट कर रह जाता है तो संकीर्ण कौन हुआ? संकीर्ण लेखक तो वह हैं जो घर को घटिया मानते हैं। यदि युद्ध की हिंसा का लेखन गंभीर और महत्त्वपूर्ण है तो समूचा विश्व शांति की बातें क्यों करता है? सच पूछा जाए तो स्त्री-अनुभवों का आख्यान साहित्य में ठीक से हुआ ही नहीं। यह बात 1929 की है जब नारी-मुक्ति, नारीवाद, नारी आन्दोलन और लिंग समानता जैसे विषय सचेत रूप से न स्त्री ने उठाये थे, न पुरुषों ने। सब लेखन घटनात्मक या संदर्भात्मक था, विचारात्मक और चेतना-सम्पन्न उस प्रकार नहीं था जैसा आज है।

अब कुछ और आरोपों की बारी थी। चेम्बरलेन ने कहास्त्रीत्व का बखान जिन कथाओं में है उनमें

1. अधिकांश पात्र सीमित और जटिल हैं,
2. वे पात्र मध्यवर्गीय बकवासों से भरे हुए हैं,
3. कथावस्तु अधिक रूमानी, भावुक या पीड़ा युक्त है, और
4. अधिकांश प्रसंगों-संदर्भों में स्त्री अपमानित, अवमानित और संकीर्णता से ग्रस्त दिखाई गई है।

इसीलिए चेम्बरलेन मानते हैं कि स्त्रीत्व का बखान एक प्रकार से गुणवत्ता की दृष्टि से कमजोर है फिर चाहे उसे पुरुष लिखे या स्त्री!

एक अन्य लेखिका जूलिया ब्लेक हेम ने 1990 में लिखा था

अधिकांश स्त्री केन्द्रित कथाओं में कृत्रिम द्वन्द्व होते हैं, और

नकली मूल्यों का प्रदर्शन होता है

और ऐसा जेन ऑस्टीन, ब्रांटी बहनों, जार्ज एलियट, एलिजाबेथ गास्कल आदि सबने किया है। लेकिन नई शताब्दी के एक दो दशक पहले ही इन आरोपों का सही उत्तर दे दिया एंजिला कार्टर विण्टरसन, मोनिका अली, मीरा स्याल आदि ने। अहमदा एक पाकिस्तानी लेखिका है जिसने योरप और पाकिस्तान के बीच दो प्रकार के अनुभवों में खड़ी एक कथाकार की वफादारी को खोजा और पाया कि अपनी जड़ों और जातीय स्मृतियों में जिस स्त्री का सृजन हुआ है वह ज्यादा मुक्त और तेजस्वी है और यदि स्त्री को अतिसमर्पित, पितृसत्तात्मक प्रभावों के अधीन और आज के एकभाषीय और बहुसांस्कृतिक समाज में वर्णसंकट की तरह माना है तो यह त्रासदी योरप और योरप की स्त्री की है, एशिया और अफ्रीका की नहीं।

स्त्रीत्व की खोज में 'A Women's Wheel of Life, ए वुमन्स ह्वील ऑफ लाइफ' नामक पुस्तक में एलेक्जेंड्रा सांवेज गेविटो की पत्नी भारतीय स्त्रियों के उत्कर्ष का बयान करती है। वह यह भी मानती है कि प्राचीन नायिका दुर्गा या शक्ति थी या नहीं, कह नहीं सकते, लेकिन आज की अधिकांश नायिकाएँ दुर्गा और शक्ति की प्रतिनिधि हैं। उन्होंने अपनी अस्मिता और आत्मशक्ति का पुनर्अन्वेषण किया है। भारतीय स्त्री की आत्मा का नवजागरण हुआ है, उसके आत्मविश्वास में किसी भविष्य की क्रांति के आसार नजर आते हैं। वह अब मात्र स्त्री नहीं है बल्कि युद्ध क्षेत्र में सैनिक, पुलिस में सिपाही भी है और कार्य का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जहाँ वह नहीं है और जहाँ वह अपनी बुद्धि और अपने कर्म से जो युद्ध कर रही है, वह युद्ध पैदा तो हो रहा है किसी पुरुष वर्चस्व में मगर उसे जीत रही है स्त्री। इसलिए स्त्री की वे तमाम ध्वनियाँ जीवन और लेखन दोनों में बदल हैं, जिनका आरोप चेम्बरलेन ने लगाया था। सांचेज भारत में मेक्सिको के राजदूत रहे एक ऐसे व्यक्ति की पत्नी थी जिनके सामाजिक सरोकार राजनयिक संबंधों से ऊपर थे। एक और मज्जदार किताब है 'फ्यूचर गर्ल्स' जिसकी लेखिका हैं अनिता हेरिस। इनका कहना है कि स्त्री अब नई व्यक्तिनिष्ठता की अग्रणी है। अब उनका स्त्रीत्व तीन प्रकार के मूल्यों में प्रकट होता है। इच्छा, desire 2. निश्चय/संकल्प determination और 3. भरोसा, विश्वास, Confidence। वह योरप के इस आरोप को योरप के दिग्गजों के सामने नकारती है कि स्त्री late modernity अर्थात् विलम्ब की आधुनिकता से ग्रस्त है। योरप ने जो मुहावरे रचे जैसे DIY यानी 'Do It Yourself, 'स्वयं करो' 'Can-do-Women' 'सक्षम स्त्री' और 'at risk women' 'खतरे में स्त्री' ये योरप के डर हैं। हमारे देश के खेत-खलिहानों में सभी स्त्रियाँ खतरे में भी हैं और सक्षम भी, फिर भी निडर हैं। यदि इस दृष्टि से देखा जाए तो योरप जब गँवार था, तभी भारतीय स्त्री आधुनिक/माडर्न या गतिशील, कर्मसंकुल और क्रांतिदर्शी हो चुकी थी। योरप अपने स्त्रीत्व का महत्त्व खोजता है 'नारी प्रथम' और नारी-मुक्ति जैसे मुहावरों में। जो स्त्रीत्व स्वतंत्र नहीं था,

जहाँ स्त्री प्राथमिकता नहीं थी वहाँ तो ऐसे मुहावरे पेश होंगे ही। तभी तो सूजन हिल कहती हैं किंग्लैण्ड के मुकाबले में अधिक तेजस्वी लेखन अमरीका, एशिया और अफ्रीका की स्त्रियाँ कर रही हैं। (उदाहरणइसाक डेनीसन, एन सेक्सटन, नाडीन गोर्डेमेर, यूडेरा वेल्टी, आदि)। योरप के लोगों का मानना है कि स्त्री लेखन के नाम पर जो ऑरेंज प्राइज, Orange Prize दिया जाता है वह पुरस्कार भी गुणवत्ता की दृष्टि से ठीक नहीं है और न ही उच्चकोटि के स्त्रीलेखन पर दिया जाता है। यदि एक अन्तरराष्ट्रीय पुरस्कार की यह फज़ीहत है तो यह तो मानना ही होगा कि पुरस्कार उच्चकोटि के लेखन के मानदण्ड नहीं हो सकते।

एशिया-अफ्रीका के आख्यान ने योरप-अमरीकी स्त्रीत्व की अवधारणा को झकझोरा है। वहाँ सेक्स की दुकानें (Sex Shops) हैं, सेक्स की दुकानों के समर्थक (Body Shop Sponsors) हैं, संचार-तंत्र हर घर के कोने कोने तक हैंइसके बावजूद अगर जैनेन्द्र 'सुनीता' और 'त्यागपत्र' लिखते हैं, अमृतलाल नागर'नाच्यो गोपाल' लिखते हैं, 'वैशाली की नगरवधू' से लेकर 'निष्कवच', 'कठगुलाब', 'आवा', 'अअस्तु का', 'अलमा कबूतरी', 'सूखा बरगद', 'शेष कादम्बरी' जैसी औपन्यासिक रचनाएँ आती हैं और कृष्ण बलदेव वैद तो स्त्रीत्व को उसके तमाम अवगुणठनों से मुक्त कर उसकी देह से कथा की नई भाषा रचते हैं, तो आधुनिक से उत्तरआधुनिक तक के तमाम आख्यान यह साबित करते हैं कि भारतीय स्त्रीत्व की खोज या उसके आख्यान में उसकी अस्मिता तो पहले से की प्रकट है लेकिन अभी भी उस साहित्य की रचना जरूरी है जो यह कह सके कि यह हैभारत, एशिया या अफ्रीका का स्त्रीत्व।

हाल ही एक तथ्य और प्रकट हुआ है कि दुनियाभर में एक सौ तीस करोड़ स्त्रियाँ ऐसी हैं जो गरीबी में जीने को बाध्य हैं, और उनमें सत्तर प्रतिशत ऐसी हैं जिनके पास न तन है, न स्तन है, न भोजन है, न वस्त्र। ऐसे में वे तो देहशोषण के भी काबिल नहीं हैं। क्या हमारा स्त्री-आख्यान ऐसी स्त्री का आख्यान है? महाश्वेता देवी, प्रतिभा राय और मैत्रेयी पुष्पा ने कुछ कोशिश की है, लेकिन ऐसे स्त्रीत्व का तो सही आख्यान रचा ही नहीं गया।

जब जब भी स्त्रीत्व का प्रश्न उठाया जाता है तो कुछ गुस्साये शब्द रच दिए जाते हैं, प्रश्नों के प्रतिप्रश्न रच दिए जाते हैं और वाजनेसेंस्की जैसे रूसी कवि स्त्री को उनकी स्त्री छवि से मुक्त करने के लिए एक नया शब्द रचते हैं'प्रति-पुरुष' या काउंटर मैन (Counter-man) क्या प्रति-'पुरुष' कह देने की मानसिकता में भी पुरुष नहीं है? स्त्री, पुरुष का प्रतिपुरुष क्यों बने? वह भाषा और व्याकरण में पुरुष का विलोम क्यों बने? उसका स्त्रीत्व उसके सही आख्यान से ही रचना होगा और स्त्री लेखन पर जो आरोप हैं कि वह शहरी मध्यमवर्गीय मानसिकता का सृजन है तो इस शहरीपन के स्त्रीवाद से बच कर एक ऐसी स्त्री रचना में खड़ी करनी होगी जो बलात्कार को यदि देह में भोगती है तो कम से कम शब्द में तो न भोगे। स्त्री विमर्श

को उसकी संकीर्ण शब्दावली और मुहावरेबाजी से मुक्त कर उसका आख्यान यदि इस प्रकार सृजित होता है कि वह शब्द में, कलाओं में, कर्मक्षेत्र में सब जगह न बराबर दिखे, न छोटी, बल्कि अपने ही आकार में इतनी बड़ी लगे कि स्त्रीत्व के समक्ष अन्य सब कुछ छोटा हो जाय, तभी यह माना जा सकता है कि हम अब स्त्रीत्व के लिए सही आख्यान की ईमानदार रचना के प्रति गंभीर हैं।

अंत में पुनः वे ही प्रश्न उठाने जा सकते हैं भारतीय स्त्रीत्व और स्त्रीत्व के आख्यान को लेकर। और विशेषकर हिन्दी आख्यान में स्त्रीत्व के आख्यान को लेकर पूछा जा सकता है

क्या हिन्दी में स्त्रीत्व का आख्यान संकीर्ण, सीमित और पूर्वग्रह-ग्रस्त नहीं है?

क्या अधिकांश आख्यानों में स्त्री एक गृहस्थ-स्त्री, पति, पिता, ससुराल और समाज की प्रताड़नाओं और राजनीतिक उपेक्षाओं की शिकार नहीं दिखाई गई है?

क्या पुरुष-वर्चस्व से आक्रान्त स्त्रियाँ केवल हम-बिस्तर होने, पति और प्रेमी का विवाद रचने, बच्चे पैदा कर उनका पालन-पोषण करने और परिवारों में अपने अस्तित्व का आत्म-समर्पण कर देने वाली स्त्रियाँ नहीं हैं और जिन पर केन्द्रित कहानियों में स्त्री की परवशता और दयनीयता का रोना नहीं रोया गया है?

आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और पारिवारिक जीवन में क्या स्त्री पुरुष की वास्तविक बराबरी हासिल कर पाई है? संसद में स्त्री आरक्षण बिल का पारित न होना क्या स्त्री का कोई भी ऐसा लेखन रच पाया है जिसमें स्त्री अपनी सवैधानिक बराबरी के लिए संघर्ष करती दिखाई देती?

विश्व बाजारवाद, भूमण्डलीकरण, सूचना-क्रांति, कारपोरेट जगत आदि पर कितने स्त्री चरित्रों को लेकर साहित्य रचा गया? क्या ऐसे कार्यों में लगी स्त्रियाँ केवल घटिया टी.वी. सीरियलों की नायिका या दुष्टपात्र, 'विलेन' बनकर नहीं रह गई हैं?

हिन्दी का गत 50-60 वर्ष का समूचा कथा-साहित्य स्त्रीत्व को लेकर परखा जाए तो क्या उसमें स्त्री की आत्म-अस्मिता, विद्रोह, संघर्ष, चेतनाशील और आत्मनिर्भर छवि उतनी केन्द्रीय भूमिका के साथ रची गई जितनी एक प्रताड़ित, पीड़ित, वेश्या के रूप में रची गई? क्या वेश्या को लेकर हिन्दी में जो चरित्र रचे गए वे किसी 'वीमिन आफ रोम', 'यामा द पिट', 'अन्ना केरिनना', 'मदाम बावेरी' आदि योस्पीय रचनाओं के प्रभाव से पैदा नहीं हुए हैं?

क्या लोपामुद्रा, लोमहर्षिणी, वैशाली की नगरवधू से आगे का वह स्त्रीत्व

रचा गया जो उनकी ही तरह स्त्री को विदुषी के साथ-साथ अपने अस्तित्व और अस्मिता के प्रति संघर्षशील बताता?

प्रश्न कई हैं। स्त्रीत्व का आख्यान कितना रचा गया और कितना रचा जाएगा या रचा जाना चाहिए इस प्रश्न को भारतीय परिप्रेक्ष्य में उन स्त्रियों के बीच ले जाना होगा जो आज भी न उच्च वर्ग की हैं, न मध्य वर्ग की न निम्न मध्य वर्ग की बल्कि जो समाज में फेंके हुए कचरे की तरह ज़िन्दगी जीने को विवश हैं।

हम जब योरप, अमेरिका और लेटिन अमेरिका और अफ्रीका का साहित्य पढ़ते हैं, तो लगता है जैसे वहाँ की स्त्री ने सामाजिक संघर्ष से, ज्यादा अपने शब्दों का संघर्ष किया है। वरना नोबेल पुरस्कारों को स्त्री सर्जकों के समक्ष झुकना न पड़ता। इस्लामिक देशों ने स्त्री के प्रति बराबरी या उतना संवेदनशील नजरिया नहीं अपनाया जिसका एक कारण है स्त्री आज के उस समय में अत्यन्त दयनीय जीवन जी रही है। भारतीय धर्माचार्यों ने भी स्त्री का आख्यान जितना नकारात्मक किया, उतना सकारात्मक किया होता तो संभव था कि एक नया आख्यान आकार लेता जो हमारी पौराणिक गाथाओं की स्त्री से आगे, आधुनिकता की शिकार स्त्री से आगे एक ऐसी स्त्री आख्यान रचता जिसके योरप-अमरीका को अपने स्त्रीवादी आख्यान बदलने पड़ते। 'कथा-साहित्य' एकमात्र ऐसा आख्यान नहीं होता। स्त्री का भारतीय आख्यान अभी शेष है न केवल हिन्दी में बल्कि समस्त भारतीय भाषाओं में, वह भी उस विविधता के साथ जितनी विविधता हमारी संस्कृति में है, भाषा में है और ज्ञान की धाराओं में है। इसीलिए स्त्रीत्व का आख्यात सृजन की नई चुनौती मानकर अगर रचा गया तो जो नई स्त्री आकार लेगी वह पुरुष से बड़ी या छोटी न होकर अपने ही आकार में सार्थक होगी।

नाग भाषाएँ

नाग भाषा परिवार और प्राकृत भाषाएँ

राजमल बोरा*

1

भारत में प्राचीन भाषाओं में दो परिवार प्रमुख रहे हैं और वे हैं आर्य परिवार और द्रविड़ परिवार। आर्य परिवार के अन्तर्गत संस्कृत और प्राकृत भाषाएँ प्रमुख हैं। द्रविड़ परिवार को आर्यभाषाओं से अलगाने वाले प्रमुख भाषाविद् काल्डवेल हैं। यों तो काल्डवेल से बहुत पूर्व मार्कण्डेय ने द्रविड़ भाषाओं को प्राकृत के विविध रूपों के अन्तर्गत ही माना है। इन दोनों परिवारों को छोड़ दें तो अन्य दो परिवारों का कार्य बहुत कम हुआ है। मैं तो मानता हूँ कि आर्य परिवार और द्रविड़ परिवार को अलगाने का काल्डवेल का काम उत्तर भारत और दक्षिण भारत के अलगाने में सहायक हुआ है। काल्डवेल के कार्य को उत्तर भारत के भाषाविदों ने ठीक से समझा नहीं है। अब तक काल्डवेल के प्रसिद्ध ग्रंथ 'A Comparative Grammar of the Dravidian or South-Indian Family of Languages' का हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ है। उसका सर्वप्रथम प्रकाशन 1856 ई. में हुआ है। इंग्लैण्ड से भारत आते समय उसकी भेंट जहाज़ में सी.पी. ब्राउन से हुई है। उसने जो संस्कृत सीखी, वह सी.पी. ब्राउन से सीखी है। दक्षिण भारत में मद्रास, कड़य्या जैसे स्थानों पर रहकर उसने दक्षिण की भाषाएँ सीखी हैं। सी.पी. ब्राउन संस्कृत का विद्वान था और उसने तेलुगु भाषा पर बहुत काम किया है। वह हिन्दी भी जानता था। काल्डवेल ने उस पर संस्मरण भी उसकी मृत्यु के बाद लिखा है। वह उसे पण्डित सी.पी. ब्राउन कहा करता था। भाषाओं के प्रति दोनों का दृष्टिकोण अलग-अलग था। सी.पी. ब्राउन की पुस्तकों का प्रकाशन भारत में सबसे पहले श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय से हुआ है। उसके इस कार्य की पहचान करानेवाले डॉ. जी.एन. रेड्डी हैं जो पहले तेलुगु के प्राध्यापक हो गये बाद में उसी विश्वविद्यालय में कुलपति भी हुए। कुलपति होने के बाद उन्होंने यह सारा कार्य किया है। सी.पी. ब्राउन की पुस्तकें पढ़ने के बाद यह नहीं लगता कि आर्य परिवार और द्रविड़ परिवार में अलगाव है। संस्कृत भाषा को द्रविड़ परिवार से अलगाने

* 5, मनीषा नगर, केसरसिंहपुरा, औरंगाबाद-431005 (महाराष्ट्र)

का कार्य काल्डवेल का है। दोनों परिवारों को जोड़ने का कार्य उत्तर भारत के विद्वानों ने किया किन्तु उसे मान्यता नहीं मिली। प्रमुख रूप में पं. काशीराम शर्मा और भगवानसिंह की पुस्तकें अब उपलब्ध नहीं हैं। और अब काम कौन करेगा? आज जो द्रविड़ परिवार पर बहुत काम हुआ है। और वह सारा काम अंग्रेजी में है। अंग्रेजी को माध्यम बनाकर यह काम अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हो रहा है। प्रमुख काम के दक्षिण भारत में दो-तीन केन्द्र हैं। इनमें तिरुवनन्तपुरम् से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का जर्नल International Journal of Dravidian Linguistics प्रकाशित होता है। चित्तूर जिले में अलग से एक संस्थान द्रविड़ परिवार पर काम कर रहा है। वहाँ डॉ. बी. रामकृष्ण रेड्डी कार्य कर रहे हैं। कहना यह है कि द्रविड़ परिवार को जो स्वरूप और स्वतंत्र स्वरूप काल्डवेल ने दिया उसका परिणाम आज हम देख रहे हैं। इन भाषाओं में मराठी सम्मिलित नहीं है।

2

भाषा परिवारों में अन्य दो नाम कोल परिवार (या मुण्डा परिवार) तथा नाग परिवार हैं। ये दोनों ही परिवार बहुत उपेक्षित हैं। ये नामकरण वस्तुतः डॉ. रामविलास शर्मा ने प्रचलित किए हैं। इन परिवारों का प्राथमिक परिचय डॉ. रामविलास शर्मा ने दिया है। जो कार्य उत्तर भारत में हो रहा था, उसका केन्द्र आगरा है। केन्द्रीय हिन्दी संस्थान में विपुल सामग्री है। उसकी शाखाएँ सारे भारत में हैं। केन्द्र आज भी आगरा है। आश्चर्य इस बात पर होता है कि डॉ. रामविलास शर्मा के कार्य को देखते हुए भी उनको भाषाविद् नहीं माना जाता और सच तो यह है कि **ऐतिहासिक भाषाविज्ञान** के जनक वे ही हैं। मराठी भाषा में भी विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े भी भाषाविद् थे, किन्तु उनके विचारों को मान्यता स्वयं मराठी में नहीं मिली। भाषाविद् के रूप में उनकी पहचान न होकर उन्हें **इतिहासकार** के रूप में अधिक ख्याति मिली है। इतिहास के साथ-साथ भाषाओं का इतिहास पहचानने का काम अनेक विद्वानों ने किया है। हिन्दी में जयचन्द्र विद्यालंकार का काम है। उन्हें अपनी पुस्तकें स्वयं छापनी पड़ी हैं। **भारत भूमि और उसके निवासी** पुस्तक में उन्होंने भौगोलिक तथा ऐतिहासिक आधार देते हुए भारत की भाषाओं और बोलियों का वर्णन दिया है। वह ग्रियर्सन के बाद में प्रतिक्रिया पर लिखी हुई पुस्तक है। और कई नाम हैं और कार्य भी हैं।

3

डॉ. रामविलास शर्मा के कार्य को आगे बढ़ाने का कार्य होना चाहिए। उनकी 'भाषा और समाज' पुस्तक बहुत अच्छी है। उसी पुस्तक में उनके भाषाविद् होने का परिचय मिल जाता है। उसके बाद तो वे साहित्य की ओर अधिक मुड़ गये।

सेवा-निवृत्त होने तक उनका ध्यान इस ओर गया नहीं। 1972 ई. में सेवानिवृत्त होने के बाद उन्होंने 1980 ई. तक आगरा में ही काम किया। उन्हीं दिनों वे संस्थान में काम करने लगे थे। भारतीय भाषाओं पर सारी सामग्री उन्हें सहज उपलब्ध और हस्तामलक थी। उनका भाषाविद् रूप पुनः जाग्रत हुआ और **'भारत के भाषा परिवार और हिन्दी भाषा'**, के तीन बृहत् भाग लिख लिये। उनका प्रकाशन बाद में उनके दिल्ली पहुँचने पर हुआ। 1981 ई. से वे दिल्ली में रहने लगे। उनकी आरम्भ की पुस्तकों को जितनी ख्याति मिली उतनी ख्याति उनकी भाषा पर और भाषा परिवारों पर लिखी हुई पुस्तकों को नहीं मिली है। इससे वे कुछ दुःखी भी हो गए थे। कोल भाषा परिवार तथा नाग परिवार पर उन्होंने विस्तृत जानकारी दी है। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने तो 'भारत में नाग-परिवार की भाषाएँ' स्वतंत्र पुस्तक लिखी है, जिसका प्रकाशन इसी वर्ष 2006 ई. में हुआ है। मैं चाहता हूँ कि इसी तरह के कोल भाषा परिवार पर भी पुस्तक लिखें। दोनों परिवारों पर सर्वप्रथम पारिवारिक स्तर पर काम करने वालों में डॉ. रामविलास शर्मा अग्रणी हैं।

4

डॉ. ब्रज बिहारी कुमार का काम **नाग भाषा परिवार** पर बहुत उपयोगी है। वे तो उस क्षेत्र के निवासी होकर रहे हैं। उन्होंने काम स्वतंत्र रूप में किया और अपने सहयोगी बन्धुओं से भी करवाया था। उन्हीं के कारण हिन्दी में नाग-परिवार के क्षेत्र की (उत्तर-पूर्व) स्वतंत्र भाषाओं का परिचय हिन्दी में मिलता है। उक्त क्षेत्र में वे ग्रियर्सन की तरह काम करने वाले हैं। ग्रियर्सन ने भारत की भाषाओं का सर्वेक्षण प्रस्तुत करने का काम करते समय दक्षिण भारत की भाषाओं पर विशेष ध्यान नहीं दिया और इसका प्रमुख कारण उनके सामने काल्डवेल का काम था। ग्रियर्सन ने ही उत्तर-पूर्व की भाषाओं पर काम करते समय उन्हें चीनी-तिब्बती-बर्मी भाषाओं से जोड़कर देखा है, और उसी के कारण उन नामों को जोड़कर तथा उनसे नाग भाषाओं को जोड़कर परिचय दिया है। किन्तु उक्त परिचय भी हमारे लिए बहुत महत्वपूर्ण है। डॉ. ब्रजबिहारी कुमार ने स्वतंत्र भाषाओं पर स्वतंत्र पुस्तकें लिखीं तथा लिखवाईं। उन पुस्तकों में नाग परिवार की भाषाओं के व्याकरण की पुस्तकें हैं, लोक कथाओं की पुस्तकें हैं। भाषाओं के नमूने हैं और उनके अनुवाद भी हैं। स्वतंत्र भाषा का बोध होने पर और उनकी भाषाओं की पुस्तकें छपने पर उन-उन भाषाओं के बोलने वाले समुदायों में आत्मसम्मान में वृद्धि होती है। भारत स्वतंत्र होने के बाद इस क्षेत्र की भाषाओं पर ध्यान गया है। और इस क्षेत्र में हिन्दी भाषा के माध्यम से काम करवाने वालों में कई नाम हैं किन्तु प्रमुख नाम डॉ. ब्रजबिहारी कुमार का है। उनकी पुस्तकों को पढ़कर ही उस क्षेत्र का हमें परिचय मिलता है। यद्यपि उन्होंने स्वतंत्र पुस्तक नहीं लिखी किन्तु सामग्री और मूल सामग्री उन्होंने जोड़कर रखी है। उनकी सामग्री का

उपयोग डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने पूरा-पूरा किया नहीं है। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने डॉ. रामविलास शर्मा की सामग्री का अधिक उपयोग किया है और ठीक उसी तरह डॉ. ब्रजबिहारी कुमार की सामग्री का उपयोग अपेक्षाकृत कम किया है।

5

जिस समय डॉ. रामविलास शर्मा भाषा परिवारों पर कार्य कर रहे थे, उन्हीं दिनों में डॉ. ब्रजबिहारी कुमार उत्तर-पूर्व की भाषाओं पर काम कर रहे थे। यह सारा काम बीसवीं शताब्दी के आठवें दशक (1971ई.-1980) का काम है। डॉ. रामविलास शर्मा ने डॉ. ब्रजबिहारी कुमार के कार्य को देखा नहीं है। अन्यथा डॉ. ब्रजबिहारी कुमार के कार्य का उल्लेख वे अवश्य करते। उस पर भी उन्होंने इस क्षेत्र की **बोडो** और **गारो** का विस्तृत परिचय दिया है।

6

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सिंह की पुस्तक डॉ. रामविलास शर्मा को आधार मानकर चलती है। नामकरण उन्हीं का किया हुआ है। इस नामकरण के कारणों में नागालैण्ड राज्य का स्वतंत्र नामकरण भी मान सकते हैं। नागालैण्ड के स्तर पर क्या बोडोलैण्ड बनेगा? मणिपुर स्वतंत्र राज्य है। नागालैंड में वे शासकीय विज्ञान कालेज, कोहिमा के प्राचार्य रहे। उत्तर-पूर्व की भाषाओं पर काम करने के बाद डॉ. ब्रजबिहारी कुमार दिल्ली पहुँच गए हैं। और उनका एक जर्नल आस्था भारती से डायलॉग, Dialogue अंग्रेजी में लगभग सात-आठ वर्षों से छप रहा है। और उसमें उत्तर-पूर्व की सामग्री अधिक छपती है। 'चिन्तन-सृजन' का प्रकाशन भी वहाँ से होता है। एक प्रकार से उन्होंने भाषाविद् का काम छोड़ दिया है। वे चाहें तो उक्त कार्य को आगे बढ़ा सकते हैं। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सिंह उत्साही युवक हैं और इस कार्य को आगे बढ़ा सकते हैं। हमें उनसे आशाएँ हैं।

7

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सिंह की पुस्तक में सर्वप्रथम 'नाग-परिवार' को अलगाने और उस पर काम करने का प्रयत्न है। नामकरण उन्होंने डॉ. रामविलास शर्मा के आधार पर किया है और पुस्तक के भीतर के अध्यायों के शीर्षक भी डॉ. रामविलास शर्मा के आधार पर ही किये हैं। अध्यायों के नाम हैंनाग भाषा परिवार, नाग संस्कृति, नाग भाषाएँ, नाग ध्वनितंत्र, नाग शब्द सम्पदा और नाग रूपतंत्र। 'तंत्र' का उपयोग डॉ. रामविलास शर्मा ने भी किया है। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने बहुत संक्षेप में लिखने के कारण भाषाओं पर स्वतंत्र रूप से लिखा नहीं है और लिखा भी नहीं जा सकता था। सामग्री बहुत अधिक है।

8

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सिंह का महत्वपूर्ण काम इस पुस्तक के परिशिष्ट में है और वह है '**अन्य भाषाओं के साथ नाग शब्दसूची**'। उन्होंने आँख, आग, घर, जंगल, दिन, सरिता, पहाड़, पानी, पिता, पेड़, पैर, माता, रात, सिर, हवा (पृ. 98 से 116 तक) 77 भाषाओं के शब्द दिये हैं। यह शब्दसूची पुस्तक की वास्तविक सामग्री है। तदर्थ डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने बहुत श्रम किया है। तदर्थ प्रधान रूप से कोष-ग्रंथों से सहायता ली गई है। डॉ. ब्रजबिहारी कुमार ने नागभाषाओं के कोष-ग्रंथ छापे हैं। सतहत्तर भाषाओं की सूची देना नहीं चाहता किन्तु इतना अवश्य कहना चाहूँगा कि इन भाषाओं में सब से अधिक नाम नाग-भाषाओं के हैं। पुस्तक के जो अध्याय लिखे गये हैं, उनमें इस शब्दसूची का उपयोग किया गया है। डॉ. रामविलास शर्मा ने भी भारत के प्राचीन भाषा परिवार के तीसरे भाग में (पृ. 357 से 519 तक) विस्तृत शब्दसूची 8 भागों में विभाजित कर दी है। शब्दसूची प्राथमिक सर्वेक्षण का काम होता है और तदर्थ कोष-ग्रंथों की आवश्यकता होती है। शब्दसूची का उपयोग लेखन के लिए आवश्यक है। उक्त सूची का विश्लेषण कर ठीक-ठीक काम करना कठिन होता है, किन्तु ऐसा काम डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने किया है। इस अर्थ में निश्चित ही डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने डॉ. रामविलास शर्मा के कार्य को आगे बढ़ाया है। तदर्थ वे बधाई के पात्र हैं। और पुनः कहना चाहता हूँ कि कोल भाषा पर भी इस स्तर का काम करें।

9

मॉडल टाउन के निकट दिल्ली में डॉ. भोलानाथ तिवारी रहते थे। उनका निजी ग्रंथालय मैंने देखा है। उनके पास कोष-ग्रंथों का विपुल संग्रह था। देशी-विदेशी भाषाओं के सभी कोष-ग्रंथ उनके पास थे। इसीलिए वे निरन्तर भाषा-विज्ञान पर काम करते रहे हैं। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने भी (उनके पत्र के आधार पर लिख रहा हूँ) अपना संग्रह किया है और कार्य जारी है।

10

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने जो सामग्री अध्यायों में प्रस्तुत की है, उसमें नवीनता है। उक्त परिवार की वर्तमान स्थिति को ध्यान में रखते हुए उन्होंने सांस्कृतिक परिचय दिया है। उन्होंने असमी परउन भाषाओं के साथ सम्बन्ध होने पर भी कुछ विशेष नहीं लिखा। असमी के साथ नाग-परिवार का सम्बन्ध बतलाना आवश्यक है। असमी आर्य भाषा परिवार की भाषा है। उक्त भाषा को छोड़कर असम के उत्तर और दक्षिण में नाग-परिवार की भाषाएँ हैं। वस्तुतः नाग-परिवार की भाषाओं का इतिहास मिलता नहीं है, इस पर भी बोलियों के रूप में व्यवहार में आज भी प्रचलित हैं। हिमालय के

पश्चिमी से पूर्वी छोर तक ही नहीं, अपितु उनका विस्तार असम के उत्तर-दक्षिण में म्यांमार की सीमाओं तक है। उनका भौगोलिक क्षेत्र सीमित नहीं है। और ये सभी भाषाएँ सीमान्त प्रदेशों की हैं और वे सभी प्रदेश भारत के भाग हैं। किन्तु भारतीय इतिहास में इस क्षेत्र की उपेक्षा अब तक होती रही है। परिणाम यह है कि अंग्रेजों ने, कष्ट उठाकर उन लोगों को अंग्रेजी सिखाई। अपने धर्म काईसाई धर्म का प्रचार उन्होंने वहाँ पर किया। विशेष रूप से नागालैण्ड में उन्होंने यह काम किया है। देवनागरी लिपि का प्रचलन वहाँ पर नहीं था। ईसाई लोगों ने मिशनरियों ने वहाँ पर रोमन लिपि का प्रचार किया।

11

नाग-भाषाओं का प्रधान क्षेत्र हिमालय से जुड़ा पर्वतीय प्रदेश है, प्रधान रूप से कश्मीर से अरुणाचल प्रदेश तक तो है ही। किन्तु उस क्षेत्र के कश्मीर के पश्चिमी प्रदेशपेशावरतक भी वह क्षेत्र है। इसी तरह अरुणाचल प्रदेश से दक्षिण में म्यांमार (बर्मा) की सीमाओं तक फैला हुआ है और इन क्षेत्रों की भाषाओं तथा बोलियों का भौगोलिक सर्वेक्षण आज तक पूरा नहीं हुआ है। इन क्षेत्रों की भाषाओं और बोलियों का नामकरण भी पूरी तरह से हमें उपलब्ध (एक जगह पर) नहीं है। ग्रियर्सन जैसे व्यक्ति की आवश्यकता है जो इन क्षेत्रों की यात्रा करे और क्रमशः भाषाओं और बोलियों को उजागर करे। यह पूरा क्षेत्र दुर्गम है और मार्ग ठीक नहीं है। वन-कान्तार है, दुर्गम घाटियाँ हैं और घाटियों से पर्वतीय नदियाँ गुजरती हैं। ब्रह्मपुत्र नदी हिमालय के पार और इस पार गुजरते हुए बहती है। हिमालय के उस पार से उसे हिमालय के पर्वतीय प्रदेश से दक्षिण में बहने के लिए उसे समानान्तर रूप से गुजरना पड़ता है। अरुणाचल प्रदेश तक पहुँचने पर उसे मार्ग मिलता है। फिर वह दक्षिण में असम तक बहती है। असम की घाटी में पहुँचने पर वह पूर्व से पश्चिम की ओर बहती है। उसी के किनारे पर गुवाहाटी (असम की राजधानी) नगर है। असम से नीचे दक्षिण में इरावती नदी है, जो म्यांमार देश में बहती है। बीच में उत्तर-पूर्व के प्रदेश हैं। विश्व में सबसे अधिक वर्षा इस प्रदेश में होती है। पशुओं को मुक्त विचरने का स्थान गुवाहाटी के पूर्व काजीरंगा में है। मैंने गुवाहाटी की यात्रा करते समय ब्रह्मपुत्र नदी का पाट (विस्तार) देखा है। उस नदी के किनारे-किनारे गुवाहाटी नगर का प्रसिद्ध बाज़ार है। वहीं पर पर्वत के ऊपर कामाख्या का मन्दिर है। देवी का मन्दिर है। पहले पर्वत पर जाने के लिए मार्ग नहीं था। मैंने वहाँ पर सुना कि नेहरू जब वहाँ पहुँचे तो उन्हें मन्दिर दिखलाया गया। उस समय मन्दिर में दर्शनार्थियों की भीड़ को देखते हुए मुख्यमंत्री को तुरन्त आदेश दिया (आवेश में बोले) कि ऊपर पहुँचने के लिए मार्ग बनवाओ और तब वह मार्ग बना। उत्तर-पूर्व के प्रदेश प्राकृतिक दृष्टि से बहुत सुन्दर मन को मोहने वाले हैं। उत्तम-पश्चिम में जो रमणीयता है, वह तो बहुत कुछ मनुष्य पर निर्भर है

किन्तु यह प्रदेश अपनी प्राकृतिक मूल छटा से दीप्त है। और सब भौतिक सुविधाएँ हैं तो वहाँ रहना कोई भी पसन्द करेगा।

12

अन्य प्रदेशों से इस क्षेत्र का सम्पर्क टूटा हुआ है। इस पर भी वह कबीलों का प्रदेश है। कबीला एक समुदाय होता है। अपने सदस्यों के साथ वह बस जाता है। आवास और खान-पान की जहाँ सुविधा होती है, वहीं पर ये लोग बस जाते हैं। जब कोई साधन नहीं रहता तो विचरण करते हैं। उनकी यात्राएँ समुदायों में होती हैं, सब के सब स्थान छोड़ देते हैं और दूसरे क्षेत्रों में बस जाते हैं। प्रदेश की भूमि की तुलना में आबादी कम है। समुदाय भी छोटे-छोटे हैं इसलिए उनकी बोलियों की संख्याएँ बहुत हैं। सब के नामकरण हो गए हैं। ऐसा नहीं लगता पर्वत की एक ओर एक कबीला रहता है और दूसरी ओर दूसरा कबीला रहता है। दोनों कबीलों की बोलियाँ अलग-अलग रहती हैं। इनमें बोलियों का अलगाव है। कबीला कहने पर भी वे एक कुटुम्ब के रूप में रहते हैं। उनके रहन-सहन, खान-पान, सामाजिक स्वरूप में पर्वतीय झलक है। खेती करते हैं। पशुओं को पालते हैं और उसी के आधार पर जीवन-चर्या चलती है। लिखने-पढ़ने की प्रथा नहीं रही है। वन्य प्राणियों के बीच में रहकर अपनी रक्षा के उपाय कर लेते थे। इनमें लड़ाइयाँ भी होती हैं। कुटुम्ब के प्रमुख व्यक्ति के निर्देशन में ये रहते थे। इनकी प्रथाएँ सभी कबीलों में एक जैसी नहीं हैं।

13

सांस्कृतिक दृष्टि से इन प्रदेशों में विविध रूप दिखाई देंगे।

माताप्रसाद ने **मनोरम भूमि अरुणाचल** पुस्तक लिखी है। इसका प्रकाशन 1995 ई. में प्रभात प्रकाशन दिल्ली से हुआ है। उसमें उक्त प्रदेश के सांस्कृतिक स्वरूप का सचित्र विवेचन एवं विश्लेषण है। यहाँ, यह कहना चाहूँगा कि एक ही प्रदेश में अनेक बोलियाँ हैं और उन सब की झलक एक ही प्रदेश में नमूने के रूप में देखने को मिल जाती है। सीमान्त प्रदेश की भाषाएँ अलग-अलग हैं और वे सब ऐसी हैं, जिनमें अलगाव हैं। उन सब को एक परिवार से और एक भाषा से जोड़ना कठिन है। इनको **नाग-परिवार** कहने का प्रधान कारण लोक-विश्वास हो सकता है। **नाग** की महिमा केवल पर्वतीय प्रदेशों में ही नहीं, अपितु भारतवर्ष में सभी जगह है। महाराष्ट्र में नाग पंचमी (श्रावण शुक्ल पंचमी) त्योहार है। नाग की पूजा होती है। पेड़ों में झूले बाँधकर पाँच झूले अवश्य झूलते हैं। विशेष रूप से स्त्रियों का त्योहार है, बच्चे भी धूमधाम से झूला झूलते हैं और खीर खाते हैं, पीते हैं। नाग को दूध पिलाते हैं। पशुओं को देवता मानने की प्रथा पर्वतीय प्रदेशों में अधिक है। नाग के सम्बन्ध में कई कथाएँ

हैं। शिवजी हिमालयवासी हैं और उनकी वेशभूषा में नाग विराजते हैं। गंगा की धारा उनकी जटाओं से निकलती है। नाग उस जटा को घेरे हुए हैं। नाग के साथ नदी का जल जुड़ा हुआ है। नाग का आवास जल में रहता है। शेष नाग पर धरती टिकी हुई है। नाग का सम्बन्ध **गण-देवताओं** के रूप में जुड़ा हुआ है। डॉ. रामविलास ने **नाग** और **मग** के सम्बन्ध में प्रचलित लोक विश्वासों को पुराण-कथाओं के रूप में प्रस्तुत किया है। इन पुराण-कथाओं को पढ़कर इनकी सभ्यता और संस्कृति को समझा जा सकता है। संदर्भों को जानने हेतु पौराणिक संदर्भ उद्धृत कर रहा हूँ

“**महाभारत** की कथा में गरुड़ और नाग एक ही प्रजापति कश्यप की संतान हैं। नाग कद्रू के पुत्र हैं और गरुड़ विनता के। **महाभारत** की कथा से सिन्धु घाटी की प्राचीन मुद्राओं में गरुड़ और नाग गणों के सहअस्तित्व की बात पुष्ट होती है। गरुड़ और नाग गणों का वैर अवश्य ही पुराना रहा होगा और वही परम्परा **महाभारत** तक चली आई है। ऋग्वेद में वृत्र और इन्द्र के युद्ध को इसी कथा परम्परा के संदर्भ में देखना चाहिए। इस विश्लेषण से सिन्धु घाटी की सभ्यता **ऋग्वेद** और **महाभारत** काव्य से परस्पर विच्छिन्न न होकर एक ही ऐतिहासिक परम्परा से परस्पर सम्बन्ध दिखाई देती है।

भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी, भाग 1, पृ. 346

14

गण-देवताओं की कथाएँ अनेक हैं और वे लोक कथाओं से जुड़ गई हैं। प्रधान रूप से ये जनजाति बोलियों में अधिक प्रचलित हैं। आदिवासी लोगों में इनके प्रति विश्वास भी है। गण-संघों के नामों के साथ **नाग** जुड़ा हुआ है। और संदर्भों को आगे बढ़ाते हुए डॉ. रामविलास शर्मा इन कथाओं को पूर्वोत्तर की भाषाओं से भी जोड़ते हैं। लिखा है

“यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि **नाग** गण-संघ का नाम भी था। उसमें एक से अधिक गण भी सम्मिलित थे। पुराने समय से अब तक कुछ गणवाचक शब्द ऐसे हैं जो एक से अधिक गणों की ओर संकेत करते हैं। भरतगणों में कुरु, पांचाल आदि अनेक गण सम्मिलित थे। पांचाल स्वयं पाँच गणों से मिलकर बना था। आधुनिक काल में पूर्वी अंचल के जो लोग नगा कहलाते हैं, उनमें अंगामी, सेमा, आओ आदि गण शामिल हैं। इसी प्रकार प्राचीन समय में **नाग** अनेक गणों का संघ था। गणदेवता पूरे समाज का प्रतीक होता है। वह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक गण के अस्तित्व की सूचना देता है, अनेक गणों को मिलाकर उनका संघ बनाने का साधन का वह हो सकता है। यदि वह गण संघ का देवता बनेगा तो उसकी उपासना सभी गण करेंगे और वह अधिक शक्तिशाली माना जाएगा। गण समाजों के विकास में गणदेवता की कल्पना

किसी-न-किसी रूप में अनिवार्य है। उसकी स्थिति वैसी है, जैसी आधुनिक काल में राष्ट्रीय पताका की है।

भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी, भाग 1, पृ. 346

15

नाग परिवार का नामकरण अनेक गण समाजों को लेकर हुआ है। इनमें से कुछ गण समाजों के भारत के मध्य देश से सम्पर्क बनाए रखने के कारण उनकी भाषाएँ आर्य-परिवार में सम्मिलित हो गई हैं। उनमें बढ़ती असमी प्रधान हैं। पर्वतीय भाषाओं के गुण आज भी उनमें मिलते हैं। नेपाली को भी आज आर्य परिवार के अन्तर्गत (पहाड़ी भाषाओं में) रखा जाता है। शेष को तो नाग-परिवार में रखा जा सकता है। इस परिवार के भाषा-क्षेत्रों में स्त्रियों-अप्सराओं का अधिक महत्त्व है। भूटान क्षेत्र तो किरातों के इस आधार पर भाषा-परिवार का नाम किरात भी रखा जा सकता है। असम में कामाख्या का मन्दिर है वह शक्तिपीठ है। सिद्धों और नाथ सम्प्रदाय का भी वह क्षेत्र है। कामाख्या मन्दिर की तरह उस देश को कामरूप भी कहा जाता है। जैसे कि कह चुका हूँ कि असम का सम्पर्क बिहार-उत्तर प्रदेश से ही नहीं बल्कि बंगाल से अधिक रहा है। बंगला के कारण बंगला के उत्तर-पूर्व में असम और दक्षिण में उड़ियाएक परिवार की भाषाएँ प्रतीत होती हैं। मणिपुरी तथा त्रिपुरा की भाषाएँ भी बंगला भाषा से प्रभावित हैं। मिजो भाषा अलग है। मिजो भाषा के नीचे मिजोरम नामकरण भी अलग है। ये भाषाएँ असम के दक्षिण में म्यांमार से सम्पर्क रखने के कारण उसकी भाषाओं के गुण इनमें अधिक हैं।

16

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस क्षेत्र के ऐतिहासिक संदर्भ दिए हैं। उन्होंने स्त्री राज्यों के संदर्भ में लिखा है

“यह लक्ष्य करने की बात है कि ‘गोरक्ष-विजय’ में **स्त्री-देश** न कहकर कदली-दंडक वन कहा गया है। महाभारत में कदली-वन की चर्चा है (वन पर्व 146 अ.)। कहते हैं कि इस कदली देश में अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनुमान, विभीषण, कृपाचार्य और परशुराम ये सारे चिरजीवी सदा निवास करते हैं। हनुमान ने भीमसेन से कहा था कि इसके बाद दुराग्रह पर्वत है, जहाँ सिद्ध लोग जा सकते हैं। मनुष्य की गति वहाँ नहीं है (वनपर्व 146, 92-93)। पं. सुधाकर द्विवेदी ने लिखा है कि देहरादून से लेकर सब कजरीवन (कदली वन) कहे जाते हैं। पद्यावत में लिखा है कि गोपीचंद जोगी होकर कजरीवन (कदली वन) में चले गये थे। इन सब बातों से प्रमाणित होता है यह हिमालय पाद देश में अवस्थित कुमायूं, गढ़वाल के अन्दर पड़ने वाला प्रदेश है। ‘योगी

सम्प्रदाय विष्कृति' में जिस परम्परा का उल्लेख है उसमें भी हनुमान का नाम आता है। हनुमान कदली वन में ही रहते हैं, इसलिए इस कदली वन को वहाँ गलती से सिंहलद्वीप समझ लिया गया है। परंतु स्त्रीदेश कहकर संदेह का अवकाश नहीं रहने दिया गया है। एक और विचार यह है कि स्त्रीदेश कामरूप ही है। कामसूत्र की 'जयमंगला टीका' में लिखा है वज्रावतंस देश के पश्चिम में स्त्रीदेश भूतस्थान अर्थात् भोटान के पास (कदली वन) कहीं है। इस पर भी यह अनुमान पुष्ट होता है कि कदली देश आसाम के उत्तरी इलाके में है। 'तंत्रालोक की टीका' और 'कौल ज्ञान निर्णय' से यह स्पष्ट है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने कामरूप में ही कौल साधना की थी। इसलिए कदली वन या स्त्री देश से वस्तुतः कामरूप ही उद्दिष्ट है। कुलूत, सुवर्ण गोत्र, भूतस्थान, कामरूप में भिन्न-भिन्न ग्रंथों का स्त्री राज्य बताना यह साबित करता है कि किसी समय हिमालय के पार्वत्य-अंचल से पश्चिम से पूर्व तक एक विशाल प्रदेश ऐसा था जहाँ स्त्रियों की प्रधानता थी। अब भी यह बात उत्तर भारत की तुलना में बहुत दूर तक ठीक है।"

नाथ सम्प्रदाय, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी,
द्वितीय संस्करण, 1966 ई., पृ. 59-60

17

इसी तरह के और भी संदर्भ देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय के ग्रंथ **लोकायत** में भी मिल जाएँगे। राहुल ने **सिद्ध सरहपाद** के **दोहा कोश** का सम्पादन किया है। इसमें भोट भाषा का प्रयोग है। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ तिब्बत में मिली हैं। राहुलजी ने देवनागरी लिपि में मूल भोट भाषा और उनका छन्दोबद्ध अनुवाद हिन्दी में प्रस्तुत किया है। **भोट** भाषा हिमालय के उत्तर की पर्वतीय भाषा है। उसे नाग-परिवार में रखना चाहिए या नहीं, यह अलग प्रश्न है। वैदिक भाषा के गुण भी उसमें हैं। तालव्य अनुनासिक तथा कंट्य अनुनासिक का स्वरूप वैदिक भाषा तथा पालि भाषा सदृश है और ये ध्वनियाँ नाग भाषाओं में भी मिलती हैं। पर्वतीय भाषाएँ सुर तथा 'तान युक्त' हैं। उक्त उच्चारण की विधियाँ वैदिक संस्कृत में पाठ-वाचन में आज भी मौजूद हैं। लिपि में उनके चिन्ह नहीं मिलते। देवनागरी में लिखना कठिन है फिर एक ही ध्वनि के सुरताल के आधार पर भिन्न-भिन्न अर्थ भी होते हैं। वैदिक संस्कृत की उच्चारण पद्धति लौकिक संस्कृत में नहीं मिलती। आरोह-अवरोहसब प्रकार के ध्वनि गुण, वैदिक भाषा में विशेष रूप से मिलते हैं। तिब्बती भाषा में ये गुण अधिक हैं। और इसे पर्वतीय भाषाओं के गुण भी कहा जा सकता है। सिद्ध-साहित्य और नाथ-सम्प्रदाय के साहित्य की भाषाओं में प्राचीन भाषाओं और आधुनिक भाषाओं के गुण मिलते हैं। वह संक्रमण काल की भाषा है।

18

हिमालय पर्वत के अंचल की भाषाओं में तिब्बत की भाषातिब्बती बहुत समृद्ध है। वह प्राचीन भाषा है और चीनी भाषा की अपेक्षा, उसका प्रभाव नाग-भाषाओं पर अधिक है। उत्तर-पूर्व की भाषाओं पर असमी को और कुछ सीमा तक मणिपुरी को छोड़कर शेष भाषाओं पर संस्कृत का प्रभाव आज भी नहीं दिखलाई देता। संस्कृत भाषा की तुलना में प्राकृत का प्रभावविशेष रूप से मागधी तथा पालि का प्रभाव वहाँ पर अधिक है। मागधी की तुलना में पालि का प्रभाव (जो मागधी का ही रूप है) अधिक है। सम्प्रदाय की परम्परावहाँ पर विचरण करती रही है। योग-साधना से हिमालय पर्वत का सम्बन्ध है। भारतीय परम्परा में हिमालय पर पहुँचना या उस क्षेत्र में पहुँचना या आवास करनापुण्य कार्य है। नेपाल की बोलियाँ अधिक हैं। उन बोलियों में नेवारी, नेपाली तो आर्य परिवार में सम्मिलित हो गई हैं किन्तु नेपाल के ही उत्तर की बोलियों का अलगाव आज भी बना हुआ है। बौद्ध धर्म का प्रभाव जहाँ-जहाँ पहुँचा है, उनमें तिब्बती है और चीनी भी है। चीनी की तुलना में तिब्बती भाषा का प्रभाव नाग भाषाओं पर अधिक रहा है। प्राकृत की अधिक बोलियाँनाग भाषाओं में घुलमिल गई हैं। इन सबकी खोज आवश्यक है। संस्कृत भाषा को बौद्ध धर्म ने बाद में स्वीकार किया। जैनियों ने भी उसे बाद में स्वीकार किया। वैदिक परम्परा इस क्षेत्र में अधिक नहीं रही है और जो है, वह नगण्य है। उन-उन क्षेत्रों को वैदिक परम्परा ने अपना क्षेत्र माना ही नहीं है। पर्वत, वन और घाटियों से घिरा हुआ प्रदेश है। **महाभारत** का अर्जुन उन क्षेत्रों में पहुँचा है। वैदिक परम्परा का क्षेत्र पश्चिम में रहा है। पूर्व में बौद्ध और जैन अधिक रहे किन्तु उनकी सीमाएँ अपनी थीं और बिहार तो विहार करने का अर्थात् स्थायी आवास करके रहने का प्रदेश नहीं रहा। इसीलिए इस क्षेत्र को वैदिक परम्परा का स्थान न मानकर ब्राह्मणों का स्थान माना गया। बौद्ध धर्म की बाद में शाखाएँ हो गई और वे महायानी, हीनयानी, सहजयानी, वज्रयानी प्रधान हैं। सिद्ध और नाथ लोगों कीसाधना करने वाले साधकों के परिणत रूप दिखलाई देते हैं। ये सारी परम्पराएँ पूर्वी क्षेत्रों से चली हैं और सारे भारत में इनका प्रभाव है। गोरखनाथ कामरूप से दक्षिण भारत तक विचरण करता रहा है। उसकी भाषा में जो शब्दावली है, वह आगे चलकरभारत के विविध क्षेत्रों को भाषा के माध्यम से जोड़ने की है। वह पूर्वी क्षेत्रों में जितना रहा, उतना ही पंजाब में और दक्षिण में महाराष्ट्र में भी रहा है। महाराष्ट्र की नाथ परम्परा बाद में वारकरियों में परिणत हुई है।

19

फकीर, जोगी, जंगम साधु, सन्यासी, मुनि, संत और अनेक नाम हैं और इनकी बानियाँ देश भर में फैली हुई हैं। ये सभी पीठ बनाकर बाद में रहे हों किन्तु विहार

करना 'रमता जोगी, बहता पानी' उनका प्रधान गुण है। लोक जीवन से उनका गहरा सम्बन्ध है। लोक साहित्य में भाषाओं के विविध रूप हैं। वे सब जन-जीवन के प्रत्यक्षदर्शी हैं और सम्बोधन की भाषा में अधिक बोलते हैं। वारकरी तो पंढरपुर जाते हैं किन्तु अन्य भी तीर्थ क्षेत्र भारत में बने हुए हैं। ऐसे तीर्थ क्षेत्र हिमालय के पश्चिमी क्षेत्रों में हैं किन्तु पूर्वी क्षेत्रों में बिहार में तो हैं, पूर्व में आसाम में तो हैं किन्तु आसाम के उत्तर में या दक्षिण में हैं या नहीं, मैं नहीं जानता। इस पर भी उन क्षेत्रों का लोक-साहित्य है। उस लोक-साहित्य के कुछ नमूने डॉ. ब्रजबिहारी कुमार ने प्रस्तुत किये हैं। उनमें उन क्षेत्रों की सांस्कृतिक झलक मिलती है।

20

डॉ. राजेन्द्रसिंह ने नाग भाषाओं का जो विश्लेषण किया है, वह भाषिक दृष्टि से ठीक है। उन्होंने सिक्किम की भाषाओं का, लेप्चा का परिचय पुस्तक में (पृ. 37 तथा 38) दिया है। वह मुझे नया लगा। सिक्किम की भाषाओं या बोलियों पर मैंने कुछ पढ़ा नहीं है। पालि भाषा लंका से (मागधी-संस्कारित होकर) भारत में पुनः मगध में आई और वह पूर्वी क्षेत्रों में पहुँची है और बाद में वह भाषा बर्मा में (म्यांमार में) पहुँची है। किन्तु तिब्बत तथा चीन में संस्कृत के माध्यम से त्रिपिटक वाङ्मय पहुँचा है। मूल पालि ग्रंथ चीन में नहीं पहुँचे। चीनी यात्रियों ने अनूदित ग्रंथों का (संस्कृत भाषा के) चीनी में अनुवाद किया है। इन अनुवादों में भाषाओं का संक्रमण हुआ है। प्राकृत से संस्कृत और तिब्बती तथा चीनी में अनुवाद हुए हैं। तक्षशिला और नालन्दा इन अनुवादों के क्षेत्र रहे हैं।

21

नाग भाषा परिवार का यह क्षेत्र एक प्रकार से वन-क्षेत्र है, पर्वतीय क्षेत्र है, विपुल वर्षा का क्षेत्र है, जल-प्रवाहों का क्षेत्र है। यह वन के प्राणियों का मुक्त रूप से विचरण का क्षेत्र रहा है। हाथियों का क्षेत्र है और हाथी को भी **नाग** कहा जाता है। भूमि समानमैदानी नहीं है। आवागमन की सुविधाओं के अभाव का क्षेत्र रहा है। जो लोग वहाँ बस गए हैं; वे भी आपस में सम्पर्क नहीं कर सकते थे। अकेले वहाँ रह भी नहीं सकते थे। इसीलिए वे समुदायों में समूहों में रहते थे। इसलिए वहाँ पर जो छोटे-छोटे प्रदेश बने हैं, इसका कारण एक तो यह है कि समूहों में या समुदायों में अलगाव है। उनके राजनीतिक स्वरूप का परिचय बोलियों के आधार पर नहीं दिया जा सकता। उनके प्राक् इतिहास को अभी समझना है।

मुहम्मद इकबाल की काव्यचेतना में इस्लाम

शत्रुघ्न प्रसाद*

इस्लामी उग्र जागरण के महान शायर मुहम्मद इकबाल तीन पीढ़ी पहले हिन्दू थे, कश्मीरी ब्राह्मण की सपू शाखा से जुड़े हुए थे। सन् 1873 में पंजाब के सियालकोट में जन्मे मुहम्मद इकबाल को अहसास था कि वे मूलतः कश्मीरी ब्राह्मण हैं। अतः वे कहा करते थे कि उनके पास कश्मीरी ब्राह्मण का मस्तिष्क है और हृदय इस्लाम का। उन्होंने तत्कालीन उभरते राष्ट्रीय भाव के परिवेश में शिक्षा पायी। लाहौर से दर्शन शास्त्र में एम. ए. किया। वे छात्र जीवन से ही चिन्तक और शायर दोनों थे। लाहौर में इनके दोस्त थेप्रो. तीरथराम (स्वामी रामतीर्थ) और क्रान्तिकारी लाला हरदयाल। इसलिए उन्होंने देश के राष्ट्रीय जागरण के लिए राष्ट्रीय भावभूमि की कविताएँ कीं। 'तराना-ए-हिन्द' उनकी प्रसिद्ध रचना सामने आयी। 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा' नामक गीत ने सारे देश में यश पाया। आज भी यह राष्ट्रगीत के रूप में प्रतिष्ठित है। 'नया शिवाला' में शायर ने लिखा था

मिट्टी की मूरतों में समझा है तू खुदा है।

खाके-वतन का मुझको हर जरा देवता है।

मतलब यह है कि सन् 1902 ई. से 1905 ई. तक उनकी शायरी में राष्ट्रीय चेतना विद्यमान रही है।

सन् 1905 में ही मुहम्मद इकबाल दर्शन शास्त्र में विशेष अध्ययन के लिए यूरोप गये। उन्होंने कैम्ब्रिज (इंग्लैंड) और म्युनिख (जर्मनी) में यूरोपीय दर्शन की विभिन्न शाखाओं का शोधध्ययन किया। लाइबनिज के चिदाणुवाद, नीत्शे के अतिमानववाद और बर्गसाँ की अन्तःस्फूर्त ज्ञान की अवधारणा पर विचार करते हुए उन्होंने इस्लामी चिंतन से तुलना की। उन्होंने इस्लामी चिंतन की आस्तिकता और एकेश्वरवाद को श्रेष्ठ माना।

* डॉ. शत्रुघ्न प्रसाद, पूर्व प्रोफेसर, हिन्दी के जाने-माने लेखक-समीक्षक हैं। पता : त्रिपाठी भवन, राजेन्द्र नगर, पथ-13ए, पटना-16

इकबाल ने देखा कि यूरोप का राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद का आधार लेकर पश्चिम एशिया और उत्तर अफ्रीका के मुस्लिम देशों पर कब्जा कर रहा है। अतः वे राष्ट्रवाद के खिलाफ हो गये। वैसे भी इस्लाम विश्व इस्लाम की कल्पना करता रहा है। इसलिए 'बाँगेदरा' में उन्होंने राष्ट्रवाद को इस्लाम का विरोधी सिद्ध कर दिया है।

इन ताजा खुदाओं में बड़ा सबसे वतन है
जो पैरहन इसका है वो मजहब का कफन है।
अकवाम में मखलूके खुदा कहती है इससे,
कौमियत इस्लाम की जड़ कटती है इससे।

उन्होंने यूरोप की स्थिति को देखकर राष्ट्रीयता से अपने को अलग कर दिया। राष्ट्रवाद मजहब...इस्लाम का ध्वंसक लगा। इसलिए उन्होंने इस्लामी मानवतावादमिल्लते आदम के प्रति दृढ़ विश्वास व्यक्त किया। इकबाल का यह रूपान्तरण भारत के लिए अशुभ रहा। उन्होंने लिखा

तफरीके मिल्ल हिकमत अफरंग का मकसूद,
इस्लाम का मकसूद फकत 'मिल्लते आदम।'

अर्थात् अंग्रेजों का उद्देश्य विभिन्न समूहों में फूट डालना है, पर इस्लाम का उद्देश्य सिर्फ मनुष्यों में एकता लानी है।

इस प्रकार इकबाल सन् 1908 ई. में रूपान्तरित होकर लौटे। वे राष्ट्रीय चेतना के शायर नहीं रह गये। वे तौहीद (एकेश्वरवाद) के आधार पर स्थापित विश्व इस्लामवाद के समर्थक होकर यूरोप से भारत आये। इस परिवर्तन के राजनीतिक कारण को 'भारतीय सन्दर्भ में' डॉ. ताराचन्द ने स्पष्ट किया है "सन् 1905 ई. में कर्जन ने बंगभंग किया क्योंकि उसका उद्देश्य भारतीयों को आपस में भिड़ा देना था। बंगभंग के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन शुरू हुआ जो अधिकांशतः हिन्दुओं द्वारा संचालित था।

मुसलमान उस आन्दोलन ने नाराज हो गए क्योंकि वे बंगभंग को अपने लिए हितकर मानते थे। ...इकबाल जो यूरोपियों द्वारा मुसलमानों के साथ किए जाने वाले व्यवहार से बहुत रुष्ट थे, हिन्दुओं के रुख से भी नाराज हो गये थे। इस प्रकार की अनुदार और आत्मनिष्ठ अतिरंजना के गर्म झोंकों से उनके मन में खिलने वाला राष्ट्रवाद का सुकुमार फूल मुरझा गया। ...बंगभंग ने उनके मन से भारत को निकाल कर इस्लाम को प्रतिष्ठित कर दिया।"¹

वेद प्रकाश भाटिया के अनुसार मुहम्मद इकबाल के वापस आने पर न क्रांतिकारी लाला हरदयाल लाहौर में थे और न स्वामी रामतीर्थ। क्रांतिकारी भारत

1. भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास भाग III, पृ. 243-44

छोड़कर चले गये थे। स्वामी रामतीर्थ जलसमाधि ले चुके थे। अतः उन दोनों का प्रभाव इकबाल पर नहीं रह सका। वे इस्लामी दार्शनिक तथा इस्लामवादी शायर के रूप में प्रतिष्ठित हो गये। परिणाम यह हुआ कि भारतीय राष्ट्रीय चेतना तथा राष्ट्रीय आन्दोलन का एक समर्थक शायर विरोधी हो गया।

उर्दू के प्रसिद्ध समालोचक श्री एहतेशाम हुसैन ने उनके चिंतन और काव्य का विश्लेषण करते हुए लिखा है "भारतवर्ष में राष्ट्रीयता की जो भावना बढ़ रही थी, प्रारम्भ में इकबाल उस पर मुग्ध थे, पर यूरोप जाकर वह ऐसे विचारों के सम्पर्क में आये और राष्ट्रों के झगड़े देखकर वे राष्ट्रीयता से खिन्न हो गये।

शनैः-शनैः वे प्रतिक्रियावादी मुसलमानों के नेता समझे जाने लगे क्योंकि उनके विचारों से यह प्रकट होता था कि वह मुसलमानों को किसी न किसी प्रकार से भारत की दूसरी जातियों से अलग रखना और उनका सम्बन्ध बाहर के मुसलमान देशों से जोड़ना चाहते हैं। इकबाल ने इन विचारों को दार्शनिक रूप में प्रस्तुत किया था। .. इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने स्पष्ट रूप से कभी उन आन्दोलनों का साथ नहीं दिया जो स्वाधीनता की लड़ाई लड़ रहे थे।"¹

मुहम्मद इकबाल सन् 1908 में लौटकर लाहौर के गवर्नमेंट कॉलेज में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक नियुक्त हुए। उन्हें वकालत करने की भी अनुमति मिल गयी थी। उधर कॉलेज की सरकारी नौकरी उनके स्वाधीन चिंतन तथा स्वतंत्र अभिव्यक्ति के लिए बाधक बनती प्रतीत हुई। इसलिए उन्होंने कॉलेज की नौकरी छोड़ दी। और उन्होंने सन् 1938 तक आमरण उर्दू काव्य की साधना की। साथ ही फारसी में भी लिखा। पर उस काव्य में पहले के समान भारत तथा भारतीयता की खुशबू नहीं रही। और कमाल तो यह रहा कि यूरोप और यूरोपीय साम्राज्यवाद के विरोधी मुहम्मद इकबाल को सन् 1922 ई. में अंग्रेज सरकार ने 'सर' का खिताब बख्शा। उन्होंने स्वीकार किया अब वे सर मुहम्मद इकबाल कहलाने लगे। यदि वे पहले के समान राष्ट्रीय कवि के रूप में लोकप्रिय होते तो अंग्रेज सरकार उन्हें 'सर' की उपाधि से विभूषित नहीं करती। प्रश्न है कि यह विभूषण-अलंकरण भारतीय राष्ट्रवाद के विरोध के कारण हुआ या उनकी शायरी के कारण? संभवतः 'असरारे खुदी' पुस्तक के अंग्रेजी अनुवाद को पुरस्कृत करने में अंग्रेजों की इच्छा राष्ट्रवाद के विरोधी शायर को सम्मानित कर इस्लामी जागरण की उग्रचेतना को उद्दीप्त करने की थी, तभी तो राष्ट्रीय आन्दोलन बाधित हो सकता था।

इतिहास और राजनीतिशास्त्र के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् डॉ. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा ने लिखा है "तौहीद (एकेश्वरवाद) के सिद्धान्त में उन्होंने विश्व एकता का निष्कर्ष निकाला। उनकी दृष्टि में इस्लाम न राष्ट्रवाद है और न साम्राज्यवाद है, बल्कि एक

1. उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. 191

राष्ट्रसंघ है। राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस्लाम जातीय भिन्नताओं को स्वीकार करता है, किन्तु अंत में वह मानव एकता में विश्वास करता है।...इकबाल ने 'आदि इस्लाम को वापस चलो' का नारा लगाया। उन्होंने मुस्लिम भाईचारे की धारणा को सुदृढ़ करने के लिए 'मिल्लते तौहीद' की धारणा के राजनीतिक तथा सामाजिक पहलू को व्यक्त किया। काबा इस एकता के भौगोलिक केन्द्र का प्रतीक है।"²

इकबाल ने एक ओर नीत्शे के अनीश्वरवाद की आलोचना की, दूसरी ओर उन्होंने नीत्शे के अतिमानव के चिंतन के आधार पर 'मर्दे मोमिन' को स्थापित किया। उन्होंने जलालुद्दीन रूमी और जर्मन दार्शनिक नीत्शे की क्रमशः वैयक्तिकता तथा अतिमानवता के सिद्धान्तों को अपनाकर खुदी को बुलन्द करने का आवाहन किया। इसीलिए इस्लाम के अनुयायी को अल्लाह का शेर और शाहीन (शाहवान) का आक्रामक आदर्श प्रदान किया। हाली ने 'मुसद्दस' में भारत में मुसलमानों के पतन पर आँसू बहाये थे। पतन से ऊपर उठने का पैगाम दिया था। परन्तु इकबाल ने इस्लामी उत्थान के आदर्श को चिंतन, भावना और कला के त्रिकूट पर प्रतिष्ठित किया। इसीलिए राष्ट्रीय आन्दोलन के समय भारत के मुस्लिम समुदाय ने मुस्लिम हुकूमत के पुनरुत्थान की राह पर जोश ओ खरोश के साथ चल पड़ने का निश्चय किया। मुस्लिम लीग का अलगाववादी आन्दोलन इसका प्रमाण है।

राष्ट्रकवि दिनकर ने 'अर्द्धनारीश्वर' के एक लेख में इकबाल के काव्य का विवेचन करते हुए बताया है कि उसमें ज्वलंत पौरुष, अहंकार और आत्माभिमान की अभिव्यक्ति हुई है। ऐसे ही पौरुषपूर्ण मुसलमान को शायर ने अल्लाह का शेर कहा है 'अल्लाह के शेरों को आती नहीं रुबाही' याने अल्लाह के शेर कायर नहीं, आक्रामक होते हैं। और मर्दे मोमिन को शाहीन (शहबाज) साबित किया है जिसकी पहचान है

उकाबी रूह जब बेदार होती है जवानों में
नजर आती उसको अपनी मंजिल आसमानों में
नहीं तेरा नशेमन कस्रे सुलतानी की गुम्बद पर
तू शाही है, बसेरा कर पहाड़ों की चट्टानों में।

यह शहबाज भयानक शिकारी होता है। उसका परिचय देखें
हमामो-कबूतर का भूखा नहीं मैं,
कि है जिन्दगी बाज का जाहिदाना;
झपटना, पलटना, पलट कर झपटना
लहू गर्म रखने का है एक बहाना।

2. आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, पृ. 463

भारत के मुस्लिम समाज के अन्दर आक्रामक पौरुष की जागृति ही इकबाल का उद्देश्य बन गया। इसे उसने दर्शन और काव्य का आधार प्रदान कर दिया।

इकबाल ने विश्व इस्लामवाद और भारत में मुस्लिम राजनीति की प्रगति को केवल दर्शन और काव्य के आधार पर ही नहीं रखा, वे खुद सन् 1927 ई. में राजनीति में कूद पड़े। उन्होंने सन् 1930 के मुस्लिम लीग के इलाहाबाद अधिवेशन की अध्यक्षता की। अध्यक्षीय भाषण में मुस्लिम बहुल पश्चिमोत्तर प्रदेश में मुस्लिम स्वायत्त शासन की योजना पेश कर दी थी। सन् 1931-32 के गोलमेज सम्मेलन में वे मुस्लिम लीग की ओर से सम्मिलित हुए और उन्होंने साम्प्रदायिक आधार पर प्रान्तों की पुनर्रचना के बारे में म. अ. जिन्ना को राजी कर लिया।

कहा जा सकता है कि धर्मान्तरित ब्राह्मण मस्तिष्क, इस्लामी हृदय और उर्दू की शायरीतीनों मिलकर एक नया कबीर, एक नया जायसी और नया फकीर सरमद पैदा नहीं कर सके। तीनों ने मिलकर विश्व इस्लामवादी, अलगाववादी और उग्रवादी शायर को सियासतदांलीगी सियासतदां बना दिया।

इकबाल ने अपनी शायरी को कोमलता तथा मधुरता के आलम्बनफूल, शराब और नजनीन के असर से मुक्त रखा। हाली से आगे बढ़कर मुस्लिम नवोत्थान का कार्य आरंभ किया। उन्होंने मुसलमानों से सवाल किया

यों तो सैयद भी हो, मिरजा भी हो, अफगान भी हो,
तुम सभी कुछ हो, बताओ तो, मुसलमान भी हो?

और खुद जवाब दिया

हाथ बेजोर हैं, अलहाद से दिल खूगर हैं,
बुतशिकन उठ गये, बाकी जो रहे बुतगर हैं।
कौम मजहब से है, मजहब जो नहीं, तुम भी नहीं,
जज्मे-बाहम जो नहीं, महफिले-अंजुम भी नहीं।
वजे में तुम हो निसारी तो तमद्दुन में हनुद,
ये मुसल्माँ हैं? जिन्हें देखकर शरमाये यहूद।

अर्थात् मुसलमानों के हाथ कमजोर हो गये हैं। वे नास्तिकता के अभ्यस्त हो गये हैं। मूर्तिभंजकों की ताकत खत्म हो गयी है। मूर्तिकार ही शेष हैं। कौम का अस्तित्व मजहब से है। अगर मुसलमानों में एकता का उत्साह नहीं है तो तारों की सभा भी नहीं हो सकती। तुम रीतिरिवाज में ईसाई बन गये हो और संस्कृति में हिन्दू। मुसलमान मुसलमान नहीं रह गये हैं। इन्हें देखकर यहूदी भी शरमा जायेंगे।

सर मुहम्मद इकबाल कभी के हिन्दू अब हिन्दुओं के संबंध में दूसरे ढंग से सोचने लगे। हिन्दू और मुसलमानदोनों को दो कौम मानते हुए फर्क की ओर इशारा कर दिया है

देख मस्जिद में शिकस्ते रिश्ता-ए-तसबीह शेख
बुतकदे में बरहमन की पुख्या जन्नारी भी देख
काफिरों की मुस्लिम आईनी का भी नजारा कर
और अपने मुस्लिमों की मुस्लिमआजारी भी देख। (बाँगेदरा)

उन्होंने महसूस किया कि मुस्लिम हुकूमत खत्म होने पर तमाम बुतपरस्त (हिन्दू) हँस रहे हैं। इसलिए उन्होंने खुदा से शिकायत की

बुतसनमखानों में कहते हैं, मुसलमान गये
है खुशी उनको कि काबे में निगहवान गये।

उन्हें लगा कि भारत में इस्लामी मिल्लत और ताकत कमजोर हो गयी है। यही कौम के पतन का कारण है। अतः वे चेतावनी देते हैं

आबरू बाकी तेरी मिल्लत की जमैयत से थी,
जब ये जमैयत गई, दुनिया में रुसबा तू हुआ।

मुस्लिम कौम की पीड़ा के साथ वे अल्लाह से शिकायत करने लगे। 'शिकवा-ए-खुदा' और 'जवाबे शिकवा' उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

बस रहे थे यहीं सलजूक भी तूरानी भी,
अहले-चीन में, ईरान में सासानी भी,
इसी मामूरे में आबाद थे यूनानी भी,
इसी दुनिया में यहूदी भी थे, नसरानी भी,
पर, तेरे नाम पर तलवार उठाई किसने?
बात जो बिगड़ी हुई थी वह बनाई किसने?

मतलब यह है कि सिर्फ मुसलमानों ने तलवार उठाकर बुतपरस्ती को खत्म करके तौहीद (एकेश्वरवाद) में विश्वास रखनेवालों की संख्या बढ़ायी। यह युद्धनाद अपनी हुकूमत के लिए नहीं, अल्लाह के नाम की इज्जत के लिए गूँजा। अल्लाह के लिए मुसलमानों ने जंग में कुरबानी दी है।

हम जो जीते थे तो जंगों की मुसीबत के लिए,
और मरते थे तेरे नाम की इज्जत के लिए,

इस तरह इकबाल ने गाँधीजी की राष्ट्रीयता तथा अहिंसा के विपरीत शमशीर के आदर्श को मुसलमानों के सामने रखा। तलवार उठाना जेहादी जिन्दगी के लिए जरूरी है। कुल्लियात के एक शेर में उन्होंने लिखा है

यकीं मुहकम अमल पै हम मुहब्बत फातहे आलम
जेहादे जिन्दगी में हैं ये मर्दों की शमशीरें।

उन्होंने बतलाया है कि तौहीद (रहस्यवाद) का रहस्य तलवार में छिपा हुआ है। फिर से ऊँचाई को पाने के लिए फौलाद की शमशीर को समझना है। मतलब तलवार से इस्लाम को स्थापित करना है

सोचा भी है अय मर्दे-मुसलमां कभी तूने
क्या चीज है फौलाद की शमशीर जिगरदार!
इस बैत का य'मिसरए-अव्वल है कि जिसमें
पोशीदा चले आते हैं तौहीद के असरार। (बाले जिब्रइल)

उस युग में एक ओर गाँधीजी सत्य, अहिंसा और सत्याग्रह के आधार पर स्वाधीनता आन्दोलन संचालित कर रहे थे तो दूसरी ओर इकबाल इस्लामी खड्गवाद को जाग्रत कर रहे थे। कश्मीरी ब्राह्मण मूल का धर्मान्तरित चिन्तक और शायर अपनी जमीन और आसमान (भारत और भारतीयता) को भूल गया। उसने विश्व इस्लामवाद को अपनी शायरी का आलम्बन बना दिया।

अय आबे-मौज गंगा! वह दिन है याद तुझको
उतरा तेरे किनारे जब कारवाँ हमारा?
चीनोअरब हमारा हिन्दोस्तां हमारा,
मुस्लिम हैं हम, वतन है सारा जहाँ हमारा।

भारतीय मूल के नोबुल पुरस्कार विजेता नायपाल ने अपने दो यात्रा ग्रंथों में धर्मान्तरित वा मतान्तरित मुसलमानों की मानसिकता, संस्कार तथा अलगाववादी चेतना का गंभीर अध्ययन प्रस्तुत किया है। हिन्दू, बौद्ध तथा पारसी से इस्लाम के कबूल करने के बाद सबको अलगाववादी, कट्टर इस्लामवादी और उग्रवादी बना दिया जाता है। प्रमाण है इकबाल का सन् 1908 से सन् 1938 ई. तक का जीवन एवं काव्य और परिणाम है सन् 1946 से 1947 तक का मुस्लिम लीगी आक्रमण, रक्तपात, देश का विभाजन और लाखों का शरणार्थी बनना। आज का कश्मीर भी उसी मानसिकता का शिकार है।

Dialogue

Quarterly English Journal of

Astha Bharati ,Delhi

29 issues already published

Special Numbers:

Illegal Migration from Bangladesh

Central Asia

Fiscal Mismanagement in North East India

Maoist Insurgency in Nepal and India

India: Security Dimensions,

Indian Islands: Andaman &

Nicobar Islands and Lakshadwip

South-East Asia

Secularism: India in Labyrinth

India's Neighbourhood

Governance in the North-East

Policing in India

India and Central Asia

Population Issues

Naxalism

Indo-Pakistan Relations & Kashmir

Media in India

India's North-East

India: Political Culture, Governance & Growth

Understanding India

India : The Internal Security

Education in India

भारतीय प्रजातंत्र में विकृति

नरेश कुमार अम्बष्ट*

मेरा मानना है कि वर्तमान प्रजातंत्र में आम आदमी कहीं पीछे छूट गया है, अलग-थलग मूक दर्शक बनकर रह गया है। प्रशासकों एवं राजनेताओं को आम आदमी की बुनियादी जरूरतों को जानने की भी जरूरत नहीं रह गयी है। पांच साल में एक बार अपना 'वोट' देने के अलावा उसे कहीं से भी कुछ जानने एवं बुनियादी आवश्यकताओं को पाने का अधिकार नहीं है। यदि हम झारखण्ड की बात करेंगे तो भ्रष्ट नेता एवं भ्रष्ट अधिकारी तनिक भी विकास की बात सोचने से भी कतराते हैं। आज से काफी कम भ्रष्ट सरकार सन् 1974 ई. में थी। परन्तु युवा वर्ग राष्ट्रीय सामाजिक समस्याओं और भ्रष्टाचार से लड़ने के लिए कृत-संकल्प था। 18 मार्च 1974 के कुल 12 मांगों में आठ छात्रों के हित की थीं। केवल चार ही मांगें ऐसी थीं जो सामान्य वर्ग से जुड़ी हुई थी। वे थीं भ्रष्टाचार, गरीबी, बेरोजगारी तथा शिक्षा में सुधार, जो समाज एवं राष्ट्रीय समस्या से जुड़ी हुई थीं। लोकतंत्र का संकुचन हो रहा है, परन्तु इस संकुचन की असली वजह दिन-प्रतिदिन बढ़ रही गैर बराबरी है। सन् 1991 ई. से भारत में नई अर्थ-नीति लागू की गयी। इस अर्थ-नीति के साथ ही अर्थ-व्यवस्था के भूमंडलीकरण, उदारीकरण और नीजीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई। एलपीजी L.P.G. के नाम से प्रचलित इन नीतियों ने आर्थिक विषमता में बेतहासा वृद्धि की है। इन नीतियों ने "कौन बनेगा करोड़पति" युवा वर्ग का सपना बनाया है। इसी सपने को देश के संदर्भ में और विकसित राष्ट्र के संदर्भ में परोसा जा रहा है। कानून के समक्ष समानता की बात तो हो लेकिन आर्थिक समानता नहीं हो। आर्थिक विपन्नता चर्चा का विषय न बने, यह प्रयास लगातार किया जा रहा है। आर्थिक समानता के वगैर न तो राजनीतिक समानता आ सकती है और न ही लोकतंत्र मजबूत हो सकता है। चुनाव आयोग ने नामांकन के लिए 10 से 20 हजार की राशि तय की है तथा चुनाव खर्च के लिए 15 लाख की राशि तय की है। ऐसे में गरीब जनता के लिए, जहां 36 करोड़ जनता गरीबी रेखा के नीचे है, उसका चुनाव में सहभागिता मुश्किल ही नहीं असम्भव है। इस प्रक्रिया में उनका हिस्सा लेना

*विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग

असम्भव है। काले धन का प्रभाव तेजी से बढ़ा है। इस आर्थिक विषमता की वजह से लोकतंत्र संकुचित हो रहा है। मौजूदा व्यवस्था आज के युवाओं के बीच जिन सपनों को बेच रही है तथा सन् 74 का सपना दोनों परस्पर विरोधी प्रतीत हो रही है। आज की युवा पीढ़ी अपने उपभोग के लिए ज्यादा से ज्यादा संग्रह करना चाहती है। राजनीति मूल्यों से दूर हुई है और राजनीति में अपराधियों तथा पूंजीपतियों का बोलबाला बढ़ा है। देश की परिस्थितियाँ आम लोगों को मजबूर कर रही हैं, उग्रवाद को अपनाने के लिए, क्योंकि भयंकर बेरोजगारी बढ़ रही है। नरेगा असफल हो रहा है, क्योंकि यहां भ्रष्ट तरीके थोड़ा कम हैं। इसलिए नौकरशाह तथा राजनेता उसे अपनाने को तैयार नहीं है।

इस पूंजीवादी सभ्यता में तो सारे कामों की गरज महज पैसा होती है। देश का राज्य महाजनों और पूंजीपतियों को ज्यादा-से-ज्यादा नफा देने के लिए है। इस दृष्टि से मानों देश में पूंजीपतियों का ही राज्य है। मनुष्य-समाज दो भागों में बंट गया है। बड़ा हिस्सा तो करने और खपने वालों का है, और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का है, जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े समुदाय को अपने वश में किये हुये हैं। इन्हें इस बड़े भाग के साथ किसी तरह की हमदर्दी नहीं, जरा भी रियायत नहीं। इसका अस्तित्व केवल इसलिए है कि अपने मालिकों के लिए पसीना बहाये, खून गिराये और एक दिन चुपचाप इस दुनिया से विदा हो जाय। अधिक दुःख की बात तो यह है कि शासक-वर्ग के विचार और सिद्धांत शासित वर्ग के भीतर भी समा गया है, जिसका फल यह हुआ कि हर आदमी अपने को शिकारी समझता है और उसका शिकार है समाज। वह खुद समाज से बिल्कुल अलग है। अगर कोई सम्बन्ध है, तो यह है कि किसी चाल या युक्ति से वह समाज को उल्लू बनावे और उससे जितना लाभ उठाया जा सकता है उठा ले।

धन-लोभ ने मानस भावों को पूर्ण रूप से अपने अधीन कर लिया है। कुलीनता और शराफत, गुण और कमाल की कसौटी केवल रुपया है वह देवतास्वरूप है, उसका अन्तःकरण कितना ही काला क्यों न हो। साहित्य, संगीत और कला सभी धन की देहली पर माथा टेकनेवालों के हैं। यह हवा इतनी जहरीली हो गयी है कि इसमें जीवित रहना कठिन होता जा रहा है। गुण और योग्यता की सफलता उसके आर्थिक मूल्य के हिसाब से मानी जा रही है। अखबार उन्हीं का राग अलपाते हैं। इन पैसों ने आदमी के दिलो-दिमाग पर इतना अधिक कब्जा जमा लिया है कि उसके राज्य पर किसी ओर से भी आक्रमण करना कठिन दिखाई पड़ता है। दया और स्नेह, सच्चाई और सौजन्य का पुतला मनुष्य दया-ममता से शून्य जड़तंत्र बनकर रह गया है। इस पूंजीवादी व्यवस्था ने नए-नए नीति निर्धारित किये हैं जिन पर आज समाज की व्यवस्था चल रही है।

उदारीकरण के पश्चात् राजनीति, व्यवसाय और सार्वजनिक जीवन में लगातार

हास हुआ है। शिक्षा, बावजूद अनेक कमेटियों और कमीशनों के, वहीं है, जहां अंग्रेजों के जमाने में थी। रस्म-रिवाज, तौर-तरीके, विश्वास और अन्धविश्वास सब जैसे-के-तैसे हैं। मात्र अभिषेक तथा ऐश्वर्या की शादी की चर्चा होती है। गरीबी में लगातार बढ़ोतरी हो रही है। पीने का पानी, बीमारी में इलाज के प्रबंध तथा अच्छी शिक्षा दूर की चीज हो गई है। या तो उग्रवाद अपनाये या बेवश अपने भाग्य पर रोये। कोई सुनने वाला नहीं, कोई देखने वाला नहीं। मनोज भुइयां की सदस्यता खत्म होती है भ्रष्ट आचरण के कारण। उसे तथाकथित भ्रष्टाचार से लड़ने वालों ने हीरो बना दिया। मुझे यह पहली बार लग रहा है कि राज्य निकम्मा है अपराधियों के नियंत्रण में है। सेवा-कार्य राजनेताओं के सोच से काफी दूर है। नेता, अफसर, ठेकेदार और सुविधाभोगी वर्ग देश की अस्मिता को लूट रहे हैं। हाल के चुनाव में जनता रास्ता तलाश रही है, परन्तु वह बेचैन है। स्त्री-समाज, खेतिहर-समाज, छात्र, युवा वर्ग खासकर गरीब तबके के लोग विवश हो रहे हैं। शिक्षा के नाम पर व्यावसायिक शिक्षा मात्र अभिजात्य वर्ग के लिए उपलब्ध करायी जा रही है। इसे लोकतंत्र का मखौल कहा जा सकता है। भ्रष्ट राजनीतिक तंत्र आम आदमी को अच्छी शिक्षा मुहैया करा नहीं सकता। शिक्षक वर्ग आम आदमी के प्रति या तो उदासीन है या बेबस है। यद्यपि उच्च शिक्षा के क्षेत्र में काफी धन-राशि खर्च की जा रही है, फिर भी विश्व स्तर का शोध, शिक्षण आम आदमी को मुहैया कराने में असफल रहे हैं। झारखण्ड में उच्च शिक्षा प्रदान करने वाले महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों की संख्या न तो बढ़ी है और न ही महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के पास भव्य परिसर उपलब्ध हैं। सुविधाओं के विकास के लिये आवश्यक धनराशि भी उपलब्ध नहीं करायी जा रही है। ऐसे में यहां शैक्षणिक वातावरण उपलब्ध होने की संभावना बहुत ही क्षीण हो गई है। राजनीतिक पार्टियां इन शैक्षणिक संस्थाओं तथा विद्यार्थियों के बीच अपना आधार मजबूत करने में लगी रहती हैं, जिसके कारण शैक्षणिक नियुक्तियां तथा प्रशासनिक निर्णय भी प्रभावित होते हैं। पुस्तकालयों तथा प्रयोगशालाओं इत्यादि के विकास के लिए बहुत कम धन उपलब्ध होता है। आर्थिक स्वायत्तता विश्वविद्यालय की छीन ली गई है, विभागों की स्वायत्तता भी विश्वविद्यालय प्रशासन द्वारा लगातार छिनी जा रही है। महाविद्यालय के छात्र नाम तो लिखा रहे हैं लेकिन वर्ग में उपस्थिति नगण्य है। इसके लिये जिम्मेदार कौन, इसकी चर्चा अभिषेक या अधिषेक में नहीं होती। कुलपति एवं विश्वविद्यालय प्रशासन अपना गुण-गान खुद करते हुए तारीफ के पुल बांधते रहते हैं। ऐसे में इनसे उच्च शिक्षा की गुणवत्ता तथा शोध की कितनी अपेक्षा की जा सकती है।

मेरा यह मानना है कि वर्तमान शिक्षा से दंभ, राग, जुल्म वगैरह बढ़े हैं। अंग्रेजी शिक्षा पाये हुये लोगों ने अपने मूल्य बदल जाने के कारण प्रजा को ठगने में और उसे परेशान करने में अपराध बोध महसूस करना छोड़ दिया है। हम लोग आधुनिक सभ्यता के रोग में ऐसे फंस चुके हैं कि, वर्तमान शिक्षा को पूर्णतः अस्वीकार करना

आसान नहीं है। फिलहाल तो बिल्कुल नहीं। एक व्यक्ति के रूप में संस्कृति जीना अलग बात है। हर प्रतिबद्धता के बावजूद एक व्यक्ति संस्कृति को उपभोक्ता के रूप में जीता है और संस्कृति के विभिन्न रूपों को स्वाभाविक स्थिति के रूप में ही स्वीकारता है। इस प्रक्रिया में एक निष्क्रियता है।

हर संस्कृति की अपनी समस्याएं होती हैं और इन समस्याओं के समाधान के लिए हर संस्कृति के अपने विशेषज्ञ होते हैं। दुर्भाग्य से भारत में विशेषज्ञों की काफी कमी रही है। परन्तु भारतीय सभ्यता में हर व्यक्ति, परिवार, जाति एवं सम्प्रदाय का लक्ष्य किसी-न-किसी प्रकार दक्षता प्राप्त करना होता है। इसके सामान्यतः तीन स्रोत हैं: (1) शास्त्रीय प्रशिक्षण, (2) लौकिक प्रशिक्षण और (3) व्यक्तिगत साधना। इन्हें क्रमशः ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग भी कहते हैं।

उसी तरह हर समाज की व्यवस्था को बनाने के लिए अपने विशेषज्ञ होते हैं जिन्हें राजनीतिज्ञ कहते हैं। वे काफी साधन-सम्पन्न होते हैं। परन्तु विगत 60 वर्षों का भारत न तो ज्ञानमार्गी है और न सहभागिता पर आधारित लोकतांत्रिक व्यवस्था पर यहां का समाज चला। यहां की पूरी व्यवस्था शोषण पर आधारित व्यवस्था रही, जो न तो ज्ञानमार्गी हो सकती है और न लोकतांत्रिक। इसके तहत शासकीय प्रणाली (शिक्षा) को इसके जीवंत स्रोतों से काटकर सुखा दिया गया है एवं तथाकथित माफिया कानून एवं पूंजीवादी प्रणालियां लाद दी गईं। भारत के देशी विशेषज्ञों को संरक्षण एवं प्रोत्साहन देने के बजाय उनके खिलाफ तरह-तरह के कुतर्क रचकर हर तरह की गड़बड़ी, कुरीतियां, असहिष्णुता फैलायी गई। उन्हें जलालत के लिए जिम्मेदार ठहराया गया और लांछित किया गया। आधुनिक भारत पर गर्व तो किया जा सकता है, परन्तु यह वर्तमान या भविष्य में एक स्वस्थ, समृद्ध एवं संतोषप्रद सामाजिक जीवन की आधारशिला नहीं बन सकती।

मुझे लगता है कि देश की 20 प्रतिशत आबादी आधुनिक पश्चिमीपरस्त सभ्यता की गुलाम है, जो अनीति को मजबूत करती है। पश्चिमी मानस में रचे-बचे प्रशिक्षित विद्वानों के लिये भारतीय सभ्यता एवं परम्पराओं को समझना सैदव काफी मुश्किल रहा है। उस वक्त भी जब स्वामी रामकृष्ण परमहंस अपना प्रवचन कर रहे थे और उस वक्त भी जब महात्मा गांधी हिन्द स्वराज लिख रहे थे। आज भी स्थिति करीब-करीब वैसी ही है।

110 करोड़ जनसंख्या वाले इस देश में विकसित दुनिया द्वारा स्थापित मानदंडों के अनुसार करीब 15 करोड़ लोग अपनी समृद्धि और ऐश्वर्य से चमक रहे हैं। बाकी के 50 करोड़ देशवासियों को ये लोग हिकारत की दृष्टि से देखते हैं और कई बार तो उपेक्षा-भाव से देखना भी नहीं चाहते। ये 15 करोड़ लोग इंडिया का प्रतिनिधित्व करते हैं और बाकी 90 करोड़ भारतीय हैं। यह एक अजीब बँटवारा है। आज जरूरत है इस खाई को खत्म करने की। यह तभी संभव है जब भारतीय एवं इंडियन को एक शिक्षा

मिले। दुनिया के इतिहास में शिक्षा ही समाज के प्रगति का वाहक रही है। एच. जी. वेल्स ने कहा है कि 'शिक्षा-मानव की अन्तिम आशा है। (Education is the last hope of Humanity) क्या आज की शिक्षा समाज की अंतिम आशा बन सकती है? क्या आज की शिक्षा चरित्र निर्माण में सहायक है। हमारे वेद और उपनिषद् सृष्टि के रहस्य के प्रश्नोत्तर हैं। उस शिक्षा के माध्यम से शिक्षक एवं विद्यार्थी मिलकर सृष्टि के गूढ़ रहस्यों को समझने की कोशिश करते हैं। यह संबंध देश के छात्रों एवं शिक्षकों के बीच कदापि नहीं है। शिक्षा एक साधना है, तपस्या है जहां आम नागरिक शिक्षा पा सकता है। जहां कृष्ण पढ़ते थे वहीं सुदामा भी पढ़ा करते थे। जिसने भी समाज के दुःखों को समझा वही ज्ञानी हो गया। क्या आज के महाविद्यालयों में समाज के दुःखों को समझने का प्रयास हो रहा है? मेरा यह मानना है कि निरक्षर आदमी आवश्यक नहीं कि मूर्ख हो। धीरू भाई अम्बानी ने कोई प्रबंधन की पढ़ाई नहीं की थी फिर भी अपने विशाल प्रबंधन द्वारा औद्योगिक साम्राज्य को खड़ा किया। क्योंकि वे बुद्धिमान, ज्ञानी थे। आज तकनीक इतनी तीव्र गति से आगे बढ़ रही है कि हमें (Multi Skilled Engineer) (बहुआयामी अभियंता) चाहिए, (Multi Skilled) बहु-आयामी मजदूर चाहिए। यदि फसल अच्छी चाहिए तो हमें जैव तकनीक (Bio-Technology) के नवीनतम अनुसंधानों को अपनाना होगा, जो चार महीने की जगह तीन महीने में ही फसल दे सके। इसलिए गांव के किसानों के लिए, मजदूरों के लिए Re-Orientation Course in latest Technology की शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी। यह Multi Entry Point द्वारा ही संभव है।

आज की शिक्षा के तीन महत्वपूर्ण आयाम हैं Information (सूचना), Skill (शिल्प), Wisdom (ज्ञान)। इन तीनों आयामों में से महाविद्यालयोंवाहे वह यांत्रिकी महाविद्यालय हो या सामान्य साधारण महाविद्यालय में मात्र सूचना दी जा रही है। विवेक गायब है। विनोबा कहा करते थे, 2 घंटे भर की पाठशाला और गांव पूरा विद्यालय। ऐसा उन्होंने क्यों कहा? क्योंकि इसमें सहभागी शिक्षा Participatory Method of Education है। समाज में जाते हैं और समाज की समस्याओं पर चर्चा करते हैं, फिर चर्चा के पश्चात् हम उसका निदान कर सकते हैं परन्तु ये सब बातें उपभोक्तावादियों के लिए बकवास लगती हैं।

अब मैं छात्रसंघों पर दृष्टिपात करता हूँ। छात्रों का एक ठोस संगठन जरूर होना चाहिए, जो समाज की सेवा का जबरदस्त साधन हो। उनका लक्ष्य हो समाज की सेवा के लिए लोगों को योग्य बनाना। अगर छात्र-संगठन के लोग ऐसा करें तो उनका ज्ञान बड़ी ऊंचाई पर पहुंच जायेगा। मेरा यह मानना है कि छात्र-संगठन का उद्देश्य यह होना चाहिए कि समाज में व्याप्त वर्तमान शिक्षा की त्रुटियों का पता लगाया जाय और जहां तक हो सके अपने भीतर से उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया जाय। वे अपने सदाचरण से शिक्षाधिकारियों को अपने विचारों के क्षेत्र में ला सकें अगर वे ऐसा करेंगे

तो राजनीतिक दलबंदी में वे कभी नहीं फँसेंगे। अप्रत्यक्ष रूप से उनके कार्य से देश की राजनीति शुद्ध होगी। परन्तु मेरा यह व्यक्तिगत अनुभव रहा है कि प्रत्येक छात्र-संगठन किसी-न-किसी राजनीति का अंग बनकर रह गया है जो छात्रों को दिग्भ्रमित करती है।

देश के लाखों गावों के लोगों में इतनी भी शक्ति नहीं है कि वे एक भी सुखे या बाढ़ का सामना कर सकें। उन्हें अपनी हालत सुधारने के लिए दान, दया पर निर्भर रहना पड़ता है। उनमें से सैकड़ों भुखमरी के कारण मौत के शिकार होते हैं। हमारी केन्द्रीय और राज्य सरकारें अंग्रेजी सरकार द्वारा निर्धारित परम्परा की कड़ाई से पालन करती हैं। लोग भूख से मरते हैं। सरकारें ऐसी मौतों से साफ इनकार कर जाती हैं। पिछले 60 वर्षों में भूमिहीन मजदूरों की संख्या अत्यधिक बढ़ी है। किसान कंगाल बने हैं। साक्षरता के प्रतिशत में जरूर वृद्धि हुई है, लेकिन निरक्षरों की कुल संख्या भी बढ़ी है। बेरोजगार लोगों की कुल संख्या भी बराबर बढ़ती रही है और अब तो सरकार ने उनके आंकड़े प्रकाशित करना भी बंद कर दिया है। इन सभी समस्याओं और लोगों की मुसीबतों ने व्यापक असंतोष व क्रोध को जन्म दिया है। हमारे देश में लोकतंत्र है, जिसमें लोगों को सरकार बदल देने का अधिकार है। उन्हें समाचारपत्रों और सभाओं आदि के द्वारा खुलकर अपनी राय प्रकट करने, नीतियों में परिवर्तन के लिए संगठित होने एवं आंदोलन करने का भी अधिकार है। लेकिन लोगों के असंतोष के साथ-साथ अन्यायपूर्ण एवं एकांगी विकास से लाभ उठाने वाले शासक वर्ग में ऐसे किसी भी परिवर्तन को न होने देने की प्रवृत्ति विकसित हुई है, जो उनके निहित स्वार्थों को प्रभावित कर सकें। इस उद्देश्य से उन्होंने लोगों को दबाने और अपने को सत्ता में रखने के लिए सभी तरह के सूक्ष्म एवं भौड़े तरीकों का इस्तेमाल किया है। समाचार माध्यमों को भी प्रभावित करने की कोशिश हुई है ताकि सत्ता के विरुद्ध जाने वाली खबरें या तो प्रकाशित न हों या उन्हें हल्का कर दिया जाय। भ्रष्टाचार का बोलबाला हुआ है, क्योंकि मंत्रियों ने उसे बढ़ावा दिया है और इस तरह विकास के साधन भ्रष्टाचार की धारा में बह गए हैं।

भारत की स्वाधीनता के समय दो काम हुए। भारत दासता से मुक्त हुआ, दूसरी ओर भारत पर नये रूपों में साम्राज्यवादी दबाव भी बढ़ता गया। साम्राज्यवाद को आर्थिक प्रभुत्व के साथ उनके सांस्कृतिक प्रभाव का विस्तार तेजी से हो रहा है। इस प्रभाव का एक पक्ष है शिक्षा; शिक्षा और राजनीति के क्षेत्र में प्रगतिशील विचारधारा को यथासंभव बाहर रखना, अंग्रेजी भाषा की स्थिति को और मजबूत बनाना। दूसरा पक्ष है ऐसी विचारधाराओं का प्रसार करना जो जनता के आत्मविश्वास को खत्म कर दें, मनुष्य के बारे में ऐसी धारणाओं का प्रसार करना जिनसे मानव-प्रगति में विश्वास टूट जाय।

भारत में इन नई परिस्थितियों में आन्दोलन एवं क्रांति की आवश्यकता है।

क्रांति जनता करेगी। सवाल यह है नेतृत्व कौन प्रदान करे? परम्परा से बुद्धिजीवी वर्ग के लोग ही यह नेतृत्व प्रदान करते आये हैं। बुद्धिजीवी वर्ग यानि मध्यमवर्ग। यह बुद्धिजीवी वर्ग सत्ता के हाथों बिका हुआ है, फिर भी कुछ लोग अभी जिन्दा हैं जो बिके हुए लोगों से भिन्न हैं। इनकी विशेषता यह है कि ये न तो सत्ता से समझौता करने के लिए तैयार हैं और न असंगतियों का मार्ग ही अपनाना चाहते हैं। मुक्तिबोध के शब्दों में “ये आत्मचेतस भी हैं और विश्वचेतस भी। आत्मचेतस सत्ता से समझौता नहीं करते और विश्वचेतस सामाजिक संघर्ष में असंग न रहें उनमें आत्म संघर्ष का जन्म होगा ही।” बुद्धिजीवियों में पूंजीपतियों, किसानों और किसानों के बेटे नहीं हैं। सारे बुद्धिजीवी मध्यम वर्ग के हैं। अपने वर्ग की स्वाभाविक मध्यमवर्गीय कमजोरियाँ इनमें भी हैं, किन्तु इन्हें अपनी कमजोरियों का पूरा अहसास है। इनकी बौद्धिकता का यह हाल है कि अपने अलावा इन्हें समाज में और कहीं क्रांतिकारी शक्ति दिखाई नहीं देती। इसलिए इनमें गहरे अपराध बोध का जन्म होता है तथा गहरे अपराध बोध से ये पीड़ित रहते हैं। यही मध्यमवर्गीय वर्ग क्रांति का नेतृत्व करेगा। वह सामाजिक विकास के लिए कोई समझौता नहीं करेगा। हमें अपने अधिकारों के साथ-साथ कर्तव्यों का भी एहसास होना चाहिए। गांधी बार-बार कर्तव्यों की बात करते थे। इसलिए कर्तव्यों और अधिकारों में जो ज्यादा महत्वपूर्ण संबंध है वह यह है कि यदि लोग किसी भ्रष्ट एवं निरंकुश सरकार का विरोध करने के अपने कर्तव्य में असफल रहते हैं तो वे अपनी स्वतंत्रता खो देंगे। सर्वोदय आंदोलन का सबसे अच्छा उदाहरण हम तेलंगाना में देखते हैं। तेलंगाना की स्थिति से ही भू-दान का जन्म हुआ था। हमें गांधी के गांव पंचायती व्यवस्था को मजबूत करना होगा, जहां हुकूमत नहीं हो, स्वराज हो।

Read in Dialogue Jan-March 2007 Issue

- Manipur Votes for Moderation
Pradip Phanjoubam
India's Interface with East Asia
Lokesh Chandra
India – China Relations: the Medieval Scenario
as a Background
Haraprasad Ray
India and China: Neither Rivals nor Partners
D.S. Rajan
China and India: Outlining Common Goals for the Future
Ravni Thakur
Tagore's Role in Strengthening Sino-Indian Relations
Yukteshwar Kumar and Dhrity Roy
Japan-India: Moving Towards a Global and
Strategic Partnership
Lalima Varma
Changing Perceptions on Indo-Japanese Relations
K.V. Kesavan
India-Japan Mutual Interactions : An Overview
Sushila Narsimhan
Ruler's Police or People's Police?
Prakash Singh
Disaster Management in Assam
H.N. Das
The North-East needs New Approach
J.N. Roy
Land Tenure System in North East India :
A Constraint for Bank Financing ?
M. P. Bezbaruah
The Foreigners (Tribunals for Assam) Order, 2006
E.N. Rammohan
Poverty, Development and Conflict
among the Manipur Tribals
John S. Shilshi
Asymmetrical Religious Profile of West Bengal :
A districts level analysis
Ashok Kumar
Central Asia in the New World System
Saidkhon Saidolimov

विश्वात्मा सर्वशैलोत्तमोत्तमम्-मेरुः

राजीव रंजन उपाध्याय*

ईरान के अजरबाईजान प्रान्त की राजधानी तबरीज, और उसी विश्वविद्यालय में दीर्घकालीन अध्यापन एवं शोध निर्देशन कई अर्थों में फलदायी रहा। उसी प्रवास काल में ईरान की संस्कृति, नवीन और प्राचीन भाषा तथा जनमानस में बसे पुराकालीन मिथकों और कथाओं से भी परिचित होने का अवसर मिला। सर्वविदित तथ्य है कि प्राचीन ईरानी भाषा और संस्कृत सगी बहनों की भाँति एक ही भाषा से उत्पन्न हुई हैं।

भारतीय आर्य ग्रन्थ ऋग्वेद और अवेस्ता (प्राचीन ईरानियों का धर्म ग्रन्थ) के अनेक मंत्रों की सभ्यता, इस तथ्य का उद्घोष करती है। आज भी यदि किसी को ईरान, कजाकिस्तान, उजबेकिस्तान, तुर्कमेनिस्तान आदि देशों में जाने का अवसर मिले तो कभी भी अजनबीपन का अनुभव नहीं होगा। लोग अपरिचित नहीं लगेंगे। आतिथ्य सत्कार की भावना यहाँ अपने देश की परम्पराओं के अनुरूप विद्यमान है।

कोई आश्चर्य नहीं कि इन देशों की प्राचीन कथाओं को पढ़ते-सुनते, सोने के पहाड़, कोहज़र की चर्चा सुनने को मिल जाए। यह वही सोने का पहाड़ है जिसे महाभारतकार सुवर्ण गिरि, मेरु कहकर संबोधित करते हैं। मेरुगिरि भारत के जनमानस में इस प्रकार बसा है कि जपमाला का मुख्य दाना मेरु कहा जाता है। बृक ग्रंथि का नाम भी मेरु ग्रन्थि है। मेरु ज्योति ध्रुवों पर दिख पड़ने वाले 'अँरोरा' प्रकाश का संबोधन है। चरखे का एक नाम मेरु यंत्र है। बुद्ध भी मेरु कल्प हैं तो ग्यारहवें मनु का एक नाम ब्रह्म सावर्णि इसी से संबद्ध है और इसे गरिमा प्रदान की है मानव मेरु दण्ड ने। पर सहज प्रश्न है कि सुमेरु अथवा मेरु कहीं है भी या यह मात्र काल्पनिक गिरिवर है? तैत्तिरीय आरण्यक में सुमेरु को संभवतः महामेरु के नाम से वर्णित किया गया है तथा वाल्मीकि रामायण में किष्किन्धा काण्ड के (चित्रत्वारिशाः सर्ग, 37-54) वर्णनों में उत्तर में स्थित हिमशैल, काम्बोज, दरद, कैलास, क्रोंच गिरि को पार कर शैलोदा नदी, उत्तर कुरु तथा उत्तर समुद्र का वर्णन है।

महाभारत के पूर्ववर्ती साहित्य में मेरु की स्थिति अस्पष्ट सी है। इसको सभापर्व

* डॉ. राजीव रंजन उपाध्याय, फैजाबाद

में वर्णित अर्जुन के उदीच्य दिशा (उत्तर दिशा) की विजय यात्रा के वर्णन ने स्पष्टता प्रदान की है। उन्होंने उत्तर दिशा स्थित अनेक क्षेत्रों में इलावर्ष-मेरु क्षेत्र केतुमाल और भद्राश्ववर्षों से नृपों को पराजित कर दिग्विजय प्रतीक कर लेकर अपना धनंजय नाम सार्थक किया था। मेरु के चारों ओर ऊँचा उठा मध्य भाग इलावर्ष कहलाता था। इसके उत्तर और दक्षिण में कुरुवर्ष एवं इलावर्ष विद्यमान थे। इलावर्ष के दक्षिण में किम्पुरुषवर्ष, हरिवर्ष और भारतवर्ष तथा पूर्व में भद्राश्ववर्ष और पश्चिम में केतुमालवर्ष था।

मार्कण्डेय पुराण में वर्णन और स्पष्ट हो जाता है। इस पर्वत के दक्षिण और उत्तर का भाग नीचा है तथा यह शैल मध्य में स्थित है। इस पर्वत के उत्तर में, नील, श्वेत और शृंगवानवर्ष के पर्वत हैं तथा दक्षिण में निषध, हेमकूट (कैलास) और हिमवानवर्ष (हिमालय) की पर्वत शृंखलाएँ हैं।

वायु एवं मत्स्य पुराण के अनुसार

*“सतुमेरुः परिवृतो भुवनेर्भू भावने ।
यस्य मे चतुरो देशोः नानापर्वेषु संस्थिताः ॥
भद्राश्व भारतं चैव, केतुमाल च पश्चिमे ।
उत्तराश्चैव कुरुवः कृतपुण्य प्रतिश्रयाः ।”*

विद्वानों ने मेरु के चारों ओर स्थित क्षेत्रों में उत्तरकुरु वर्ष को आधुनिक रूस का भूभाग तथा साइबेरिया, भद्राश्ववर्ष को मंगोलिया और चीन का भूभाग, कश्यप सागरीय अथवा कैस्पियन सागरीय क्षेत्र का विस्तृत भूभाग केतुमालवर्ष और भारतवर्ष को आधुनिक भारतीय क्षेत्र माना है। पुराणों के अनुसार जम्बू द्वीप के मध्य स्थित इस गिरि द्वारा ही समुद्र का मंथन किया गया था, फलस्वरूप देवों को अमृत की प्राप्ति हुई थी। इसी गिरि के शृंग पर ब्रह्मा का वास है। प्रो. जयचन्द्र विद्यालंकार ने उत्तर कुरुवर्ष की स्थिति शकों और हूणों के राज्य की सीमा पर स्थित थ्यानशान पर्वत के दक्षिण ओर, इसीकुल झील के पश्चिम इली नदी की घाटी में माना है। बृहत् संहिता में उतर कुरु का उल्लेख उत्तर में स्थित कैलास, हिमवान, वसुमान, क्रौंच तथा मेरु आदि के साथ किया गया है।

इसीकुल झील से अनुमानतः 1800 मील दक्षिण की ओर अल्ताई पर्वत शृंखला है। इसके समीप समुद्र तल से करीब पाँच हजार फीट की ऊँचाई पर स्थित एक झील है जिसे आधुनिक रूसी भाषा में ‘बेलूखा झील’ कहते हैं। इसके तट पर 14784 फीट की ऊँचाई वाला एक हिमआच्छादित पर्वत है, जिसको ‘बेलूखा’ पर्वत कहते हैं। यह कजाकिस्तान और मंगोलिया के मिलने वाले स्थल के शीर्ष बिन्दु पर स्थित है। यूरोशिया महाद्वीप के मध्य में स्थिति इस सबसे ऊँचे गिरिराज का मस्तक सदैव हिममंडित-श्वेत रहता है तथा इसके उत्तर का भूभाग काफी ऊँचा और अपेक्षाकृत

दक्षिणी भाग नीचा है। वास्तव में ‘अल्ताई’ शब्द मंगोलियन भाषा के ‘अल्तिन’ शब्द से उत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ ‘स्वर्ण’ होता है तथा इस बेलूखा पर्वत की घाटी को मंगोलियन अल्ताई भाषा में ‘जालोटया-दोलिना’ कहते हैं, जिसका शाब्दिक अर्थ स्वर्ण घाटी है। इस क्षेत्र के वासी आज भी प्रचलित अल्ताई भाषा में, इस पर्वत को ‘उच-सुमेरु’ ही कहते हैं जिसका अर्थ स्वर्ण गिरि है।

इसी सुमेरु गिरि की उपत्यका में सोने, चांदी और विभिन्न प्रकार के रत्नों की खानें हैं जो उच-सुमेरु, सुमेरु, मेरु की महत्ता को एवं उनके पुराणोक्त वर्णनों को सार्थकता प्रदान करती है। आधुनिक रूस के अल्ताई क्षेत्र में स्थित यह गिरिराज मेरु-सुमेरु इस क्षेत्र से हमारे पुरा कालीन संबंधों का साक्षी ही नहीं है वरन् आज भी प्रत्येक निष्ठावान भारतीय के मानस में, अपनी स्वर्णिम-श्वेत आभा के साथ विद्यमान है।

समसामयिक चिन्ताएँ

समीक्षा: डॉ. ब्रज बिहारी कुमार

प्रस्तुत पुस्तक प्रख्यात दार्शनिक यशदेव शल्य के लगभग 36 वर्षों के लम्बे अन्तराल में लिखे 29 लेखों तथा विभिन्न सम्मेलनों में प्रस्तुत उनके आलेखों का संग्रह है। अत्यन्त विस्तृत फलक पर लिखे इन लेखों में दर्शन, धर्म, भाषा, संस्कृति, शिक्षा, राजनीति, आदि सब कुछ है। इनमें समाज की समसामयिक समस्याओं पर पैनी नजर दौड़ायी गयी है; उनके प्रति चिन्ता है, चिन्तन है।

एक बात और। इन लेखों का स्वरूप एंकागी नहीं है। किसी भी विषय की चर्चा मात्र उससे बँधकर नहीं चलती। दर्शन की चर्चा के क्रम में भाषा, संस्कृति, राजनीति की चर्चा जुड़ती जाती है। ऐसा ही अन्य विषयों के साथ भी होता है। 'समसामयिक चिन्ताएँ' एक दार्शनिक द्वारा लिखा दर्शन ग्रंथ मात्र नहीं है। पुस्तक में छपे लेख शल्यजी के अध्ययन चिन्तन की व्यापकता के द्योतक हैं

पुस्तक के प्रारंभिक सात-आठ लेख गांधी विमर्श, प्रजातंत्रवाद, देश की राजनीतिक परिस्थिति तथा तात्कालिक समस्याओं, जैसे कारगिल युद्ध, विषयक हैं। गांधी केवल पहले लेख 'गांधी तथा हिन्द स्वराज्य' में ही नहीं, बल्कि दूसरे लेखों में भी बार बार आते हैं। वैसे ही नेहरू भी आते हैं। गांधीजी ने अहिंसा के द्वारा सैन्य शक्ति सम्पन्न साम्राज्यवादी शासन से लोहा लेने की चुनौती स्वीकारी। अपने लेखों में जहाँ शल्यजी गांधी की सार्वकालिकता, उनकी विशेषताओं, उनके नैतिक, आध्यात्मिक बोध के सामाजिक-राजनीतिक संदर्भों से जुड़ाव की दृष्टि, उनके मूल्य बोध की चर्चा करते हैं, वहीं व्यावहारिक कारणों से गांधीजी की अवधारणाओं से अपनी असहमति भी जताते हैं। शल्यजी ने सखेद स्वीकार किया है कि "गांधी जी में उनके इस सहज बोध और अडिग साहस के समतुल्य सूक्ष्म और युक्तियुक्त विचार दिखायी नहीं देता।"

महात्मा गांधी की बहुत सी बातों को अव्यावहारिक पाकर शल्यजी ने नकारा है। इसके साथ ही वे गांधीजी के अवदान को बार बार याद करते हैं।

* समसामयिक चिन्ताएँ, यशदेव शल्य, राका प्रकाशन, 40ए, मोतीलाल नेहरू रोड, इलाहाबाद-211001, पृ. 240, 250 रुपये।

हिन्द स्वराज्य में व्यक्त गांधीजी के विचारों पर शल्य जी का निम्नलिखित विचार द्रष्टव्य है : "हिन्द स्वराज्य में महात्मा गांधी ने पहली बार, और उतने ही मूलगामी रूप से जितने मूलगामी रूप से पाश्चात्य सभ्यता ने यंत्र के रूप में ऐन्द्रिकता का उत्कर्ष सिद्ध किया था, इस उत्कर्ष की मनुष्य के लिए वांछनीयता को अस्वीकार किया और इसके विरुद्ध उद्घोषित किया कि मनुष्य की उत्कृष्टता आध्यात्मिकता की सिद्धि में है, ऐन्द्रिक शक्ति की सिद्धि में नहीं, और यह जितना व्यक्ति के लिए सही हैं, उतना ही समाज के लिए भी, उसके राजनीतिक पक्ष के सहित, सही है।"

आजादी के बाद हमारे देश में मूल्य-बोध, भाषा, संस्कृति, शिक्षा, राजनीति, आदि हर क्षेत्र में गिरावट आयी। यह बात शल्यजी को लगातार कचोटती है। उन्हें लगता है कि आजादी के बाद नेहरू की जगह पटेल या किसी अन्य के हाथ में देश की बागडोर आयी होती तो स्थिति इतनी बुरी नहीं होती।

प्रस्तुत पुस्तक में प्रजातंत्रवाद पर तीन तथा हमारी वर्तमान राजनीतिक परिस्थिति पर एक लेख है। इनमें प्रजातंत्रवाद की अवधारणा संबंधी कठिनाइयों एवं अन्तर्विरोध, दोषों, उसकी उत्पत्ति एवं प्रयोजन, कार्यपद्धति आदि पर विचार है। उनके अनुसार प्रजातंत्र की स्वीकृति का कारण यह है कि उपलब्ध विकल्प उससे भी बुरे हैं। वैसे स्वीकार्य तो राजतंत्र भी है, यदि राजा स्वेच्छाचारी न हो, राजा और राज्य प्रजा के लिए ही हों।

शल्यजी के अनुसार: "प्रजातंत्रवाद पश्चिम में हुई औद्योगिक क्रान्ति और उससे बनी पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था से राज्य व्यवस्था को समंजस करने की बाध्यता से उत्पन्न हुई एक राज्य व्यवस्था है।" पहले की व्यवस्थाएँ बहुत सरल थीं। लेकिन यह व्यवस्था भी ठीक से चल नहीं पा रही है। बड़ी संख्या में अपराधी चुनाव जीतते हैं। संचार माध्यम निष्कृष्टतम को ऊपर लाने का काम, भोंडे और हल्के लोगों को राजनेता, विचारनेता और आचार नेताओं के रूप में प्रतिष्ठित करने का काम कर रहे हैं। स्थिति यह है कि आज "अभिनेता और खिलाड़ी सर्वोपरि हैं विचारक नहीं। विचारकों में भी जिस प्रकार 'प्रचारक' सर्वोपरि हैं चिन्तक और कवि नहीं"। शल्य जी की चिन्ता सही है कि "न्यायालय स्वतंत्र हैं, किन्तु प्रायः किसी को भी न्याय देने में असमर्थ, लोक सभा स्वतंत्र है, किन्तु वाद और विमर्श के अपने प्रयोजन के ठीक विपरीत चिल्लाहट और वाक आउटों को तत्व-बोध का साधन माननेवाली।" वैसे स्थिति विकसित देशों की भी अच्छी नहीं है। उन्होंने इस युग के सबसे अधिक नृशंस शासक दिए; 'महान' प्रजातंत्र अमरीका प्रबुद्धतर दृष्टि से आचरण नहीं कर रहा है। यूरोप के सबसे अधिक संस्कृत देश फ्रांस की स्थिति यह है कि वहाँ 'औसत प्रति पाँचवें दिन एक स्त्री की मृत्यु पति की पिटाई से होती है।' प्रजातंत्रवाद के उद्भावक गोरी जातियों का व्यवहार दूसरों के प्रति कभी अच्छा नहीं रहा। शल्यजी ने अपने लेखों

में प्रजातंत्रवादी व्यवस्था की नीति-निरपेक्षता एवं सेक्युलर दृष्टि की अक्षमताकी चर्चा भी किया है।

शल्यजी ने “हमारी राजनीतिक परिस्थिति” शीर्षक लेख में ठीक ही लिखा है कि जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में चले आन्दोलन के पीछे चरित्रबल तथा विचारबल का अभाव रहा जिससे आपात्काल लगते ही लोगों का क्रोध तुरत ठंडा पड़ गया, सारा विरोध ध्वस्त हो गया। फिर यदि आपात्काल अनुशासन पर्व था तो श्रीमती गांधी को अपने भ्रष्ट मंत्रियों को सर्वप्रथम जेल भेजना चाहिए था। कारगिल युद्ध के दौरान हम पाकिस्तान द्वारा हथियाये अपने ही प्रदेश में न जाकर वैसे देशों से अपनी सुशीलता का प्रमाण-पत्र जुटाने में लगे रहे, जिनके स्वयं का अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में व्यवहार ठीक नहीं रहा। पाकिस्तान जैसी घुसपैठ भारत में करता रहा है वैसे कोई भी देश चीन में करने का साहस कभी जुटा न पायेगा। इजरायल भी ऐसी घुसपैठ सहन नहीं करता। इस संदर्भ की आगे बढ़ाते हुए लेखक ने ठीक ही देश की दुर्बलता, निरीहता तथा आन्तरिक सड़न को रेखांकित किया है।

‘हमारा समय, असहमतियाँ और अपेक्षाएँ’ लेख में आजादी के पचास वर्ष बाद तक की देश की राजनीतिक, सांस्कृतिक, साम्प्रदायिक परिस्थितियों का, राजनीति में विकसित एवं व्याप्त भ्रष्टाचार का, आजादी के समय की हिंसा, हिन्दू मुस्लिम संबंधों से जुड़ी समस्या, भाषा शिक्षण की समस्या, आदि पर बातें हैं। जैसा कि ऊपर लिखा गया है, ये विषय बार बार आगे के कई लेखों में भी विवेचित हुए हैं। प्रजातंत्रवाद की चर्चा शुरू के लेखों में तो है ही वह अगले लेख, ‘अनेकान्त संवाद: तनाव, संघर्ष और स्वातंत्र्य’ तथा प्रकारान्तर से अन्य लेखों में भी है। हिन्दू मुस्लिम समस्या पर इस लेख के अतिरिक्त पहले के लेखों तथा बाद के पाँच लेखों में विशेष विवेचन है। दो लेख भाषा केन्द्रित तथा 9 धर्म-दर्शन संस्कृति तथा शिक्षा विषयक हैं। पुस्तक के अन्तिम तीन लेखों में अखिल भारतीय दर्शन परिषद के जन्म, विभिन्न पत्रिकाओं के प्रकाशनों से जुड़े लेखक के व्यक्तिगत प्रयत्नों का विस्तारपूर्वक उल्लेख है। उल्लेख्य है कि हिन्दी भाषा के माध्यम से शल्यजी ने जितना काम दर्शन के क्षेत्र में किया है उतना आज तक किसी ने नहीं किया है।

भारत की सम्मुख उपस्थित सांस्कृतिक चुनौती का जिक्र करते हुए शल्य जी ने ठीक ही लिखा है कि “यह चुनौती तलवार और विचार के बल पर आयी। हमारी राजनीतिक स्वतंत्रता के बाद जबकि तलवार विल्कुल हट गयी थी तब उसके विचार का बल और प्रखरता से हमारे पर हावी हुआ, और उसके साथ व्यापार का बल सम्मिलित हो गया है।” अंग्रेजों ने “हमारी शिक्षा-संस्थाओं और आर्थिक व्यवस्था को छिन्न भिन्न कर दिया।” उनकी “विज्ञान और यांत्रिकी ने हमें मानसिक स्तर पर पराभूत किया तब हमने उनके “दर्शन और काव्य तथा अन्य कलाओं को भी अनुकरणीय माना।” हममें हीनता की ग्रंथि विकसित हुई। मौलिक चिन्तन तथा

सर्जनात्मकता का अभाव हुआ; अनुकरणात्मकता बढ़ी; कुछ अपवादों को छोड़कर हम पश्चिमी दर्शन, आदि के व्याख्याकार बनकर रह गये।

शल्यजी ने अपने एक लेख में इस बात का उल्लेख किया है कि “हमारा वर्तमान लेखन या तो अतीतोन्मुखी है या पश्चिमानुयायी, इस प्रकार यह संस्कृति मूलक नहीं है।” दर्शन के सन्दर्भ में उन्होंने ठीक ही लिखा है कि “हमारा दार्शनिक लेखन किसी संदर्भ और मूल से रहित है और इसका प्रेरणा श्रोत पश्चिमी दर्शन है।” प्राचीन भारतीय दार्शनिकों पर चर्चा करनेवाले भी हैं लेकिन उसकी प्रेरणा भी पश्चिम से ही मिली।” एक “प्रभावहीन और जीवनहीन” वर्ग भी है जिसका “कृतित्व केवल दुहराने में है।” शल्यजी ने इंग्लैण्ड, अमेरिका से पढ़कर लौटे, उनकी ही भाषा में बात करने के अभयस्त विद्यार्थियों और अध्यापकों का तथा उनके आतंक का जिक्र किया है, जो आंग्ल-अमेरिकी पत्रिकाओं के विषयों पर लेख लिखते हैं, उनपर गोष्ठियाँ कराते हैं। ‘जर्नल आफ फिलासफी’ में विदेशी लेखकों के लेखों को प्राथमिकता दी जाती है, रिक्तियाँ देशी लेखकों के लेखों से भरी जाती हैं। इनकी नजर में विदेशी ही मौलिक चिन्तक हो सकते हैं; विदेशी पत्रिकाएँ अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिकाएँ हैं। कुल मिला कर स्थिति ऐसी बनती है कि हमारा दार्शनिक लेखन “संक्रमण का नायक” बनने में अक्षम रहा है।

“दर्शन में श्री अरविन्द और भगवानदास को अपवाद छोड़कर हमने या तो पाश्चात्य दार्शनिकों को ही स्वीकार किया या अपने प्राचीन दार्शनिकों की पश्चिम के दार्शनिकों से अनुरूपताएँ दिखाने का प्रयत्न किया। समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और मनोविज्ञान आदि में हमने पूर्ण रूप से हथियार डाल दिए। साहित्य में ऐसा नहीं होने और शास्त्रों में ऐसा होने का कारण शायद यह हो सकता है कि साहित्यकार अधिकांश विश्वविद्यालयों के बाहर के लोग थे और उनकी भाषा भारतीय थी जबकि शास्त्रकार अधिकांश में विश्वविद्यालयों के अध्यापक थे और उनकी भाषा अंग्रेजी थी।” जैसा कि शल्यजी ने लिखा है “पश्चिम के साथ हमारा संबंध संवाद का नहीं, केवल एक तरफा प्रभाव का रहा है।” उसी प्रकार, “साहित्य में भी अब प्रेरणा-श्रोत पश्चिम में स्थानान्तरित होने लगे। ... हिन्दी साहित्यकारों के मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, फ्रायड और इधर देरिदा आदि प्रत्यक्ष प्रेरणा-श्रोत हो गये और उन्हें अपने को गौरवान्वित करने के लिए उनके नाम लेना आवश्यक प्रतीत होने लगा।” विडम्बना है कि स्थिति आजादी के बाद ज्यादा बिगड़ी है। खतरे बढ़े हैं। शल्यजी ठीक ही लिखते हैं कि “खतरा है कि हम पश्चिम के आर्थिक और सांस्कृतिक उपनिवेश बन जाएँ।”

अंग्रेजों ने इस देश को कमजोर करने के लिए कुछ मिथक रचे; हमारे इतिहास, भाषा, संस्कृति धर्म की गलत व्याख्याएँ की। ल्याल तथा अन्य अंग्रेजों ने भारत के काल्पनिक देश होने, उसकी राजनीतिक एकता का श्रेय अंग्रेजों को देने, मुख्यधारा की परिकल्पना, मुख्यधारा एवं सीमान्त के बीच संघर्ष के मिथक, आदि रचे। भारत में

आर्य अभिमान का मिथक, भारतीय समाज की नस्लवादी व्याख्या, आदि भी उसी कड़ी के विस्तार थे। आजादी के बाद भी शिक्षा में बदलाव नहीं आया, मेकालेवादी शिक्षा चलती रही, आजादी के बाद भी हम अंग्रेजों द्वारा रचे मिथक, गलत इतिहास आदि पढ़ाते रहे। लेखन-पठन-पाठन की भाषा अंग्रेजी बनी रही। हम अपने आप से कट गये। इसका दुष्प्रभाव तो होना ही था। शल्यजी की भारत राष्ट्र संबंधी अवधारणा भी इस उपनिवेशवादी सोच से अप्रभावित नहीं है।

भारत अपनी सम्पूर्ण विविधताओं के बावजूद एक सांस्कृतिक एवं राजनीतिक राष्ट्र रहा है। सार्वभौमचक्रवर्ती राजा भारत-राष्ट्राधिपति ही होता था। राजसूय यज्ञ तथा अश्वमेध यज्ञ उसी की स्वीकृति के लिए कराये जाते थे। ऐतिहासिक काल में अशोक का राज्य भी भारत में अंग्रेजी राज्य से बड़ा था। उसमें देश के दक्षिणी छोर के छोटे से भाग को छोड़कर शेष भारत, आज के पाकिस्तान, बंगलादेश, नेपाल तथा अफगानिस्तान सम्मिलित थे। फिर दुनिया के किसी देश की सीमाएँ स्थिर नहीं रही हैं, भारत की भी नहीं। इस तरह यशदेव शल्यजी द्वारा राजनीतिक भारत के अस्तित्व नकारने का कोई ठोस आधार नहीं है।

जैसा कि ऊपर लिखा है, अंग्रेजों द्वारा रचे मिथकों, गलत व्याख्याओं का प्रभावी बने रहना एक दुःखद सत्य है। ऐसा पुरानी शिक्षा पद्धति के बने रहने से संभव हुआ। शिक्षा के क्षेत्र में वामपंथी प्रभाव की जकड़न से भी ऐसा संभव हुआ है। परिणाम स्वरूप जो उपनिवेशवादी मिथक, जो गलत व्याख्याएँ अंग्रेजों के समय में स्वीकृति न पा सकीं, उन्हें अब जोरशोर से कहा जाने लगा है। इस देश में नस्लवादी सोच भी एक उपनिवेशवादी प्रभाव ही है। दुर्भाग्य की बात तो तब है कि हमारे चिन्तक, हमारे लेखक भी नस्लवादी सोच से मुक्त नहीं हो पाये हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी, कुबेर नाथ राय, आदि लेखकों की रचनाओं में उल्लिखित गलत प्रभावों की भरमार है। यशदेव शल्य भी इससे मुक्त नहीं हैं। आखिर उनके ऐसा कहने का मानव वैज्ञानिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक कोई आधार नहीं है कि “न तो शबरी हिन्दू थी और न किष्किन्धा निवासी लोग ही हिन्दू थे, और जिस धोबी के सीता-विषयक प्रवाद को महत्त्व देकर श्रीराम ने अपने राज्य-धर्म को निश्चित किया वह कथित नीची जाति का था।” ध्यातव्य है कि यदि शबरी एवं किष्किन्धा निवासी हिन्दू नहीं थे तो राम भी नहीं थे। बाल्मिकी बालि के संध्या कर्म एवं रावण की अर्धी के साथ अग्नि लेकर चल रहे राक्षस-जातीय यजुर्वेदी ब्राह्मणों की बात करते हैं। राम धोबी के मत का अनादर नहीं करते। यदि हमारे गोत्र कछुवा (कश्यप), कुत्ता (शुनक), बछड़ा (वत्स) तथा पक्षी (भारद्वाज) हो सकते हैं तो किष्किन्धा-वासियों का गण-चिन्ह बन्दर क्यों नहीं हो सकता?

हिन्दू-मुस्लिम संबंधों पर यशदेव शल्यजी ने अपने लेखों में काफी कुछ लिखा है। दोनों के बीच के सामंजस्य, सौमनस्य, विसंवाद एवं वैमनस्य पर उनकी अधिकांश

बातें सार्थक हैं। लेकिन इस विषय में शल्यजी का विभ्रम भी कोई कम नहीं है। वे मुस्लिम असुरक्षा का तर्क देते हैं। क्या कोई वर्ग जो असुरक्षित अनुभव करता है ऐसे कदम उठाएगा जिससे उसकी जनसंख्या का प्रतिशत 24 से घटकर 9.7 हो जाय? क्या बंगलादेश, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, आदि के मुसलमानों का अपने अल्पसंख्यकों के प्रति व्यवहार भय संचालित रहा है? यशदेव शल्य अपने लेखों में बाबरी मस्जिद समर्थकों के विवेक की, मुसलमानों को हिन्दू ढाँचे में समायोजित करने की, बँटवारे के लिए उनके बीच उपजे अपराध-बोध आदि की बातें करते हैं। वे हिन्दू तर्क में बातों को बाँधना चाहते हैं। वे भूल जाते हैं कि मुसलमानों के अपने तर्क हैं। कोई भी व्यक्ति जो थोड़ा भी कुरान, हदीस या मुहम्मद की जीवनी - मारगोलियथ, मूर या अन्य की - पढ़े होगा, ऐसी बातें नहीं लिखेगा। औरंगजेब अकेला हिन्दू-द्रोही शासक नहीं था, जैसा कि शल्यजी ने लिखा है। दिल्ली सल्तनत तथा मुगलों में से अनेक औरंगजेब की तरह ही हो गये हैं जिनके कारनामों के उल्लेख से मुस्लिम लेखकों/इतिहासकारों की पुस्तकें अटी पड़ी हैं। लेकिन इन औरंगजेबों, तुगलकों तथा खिलजियों के कारनामों के लिए हम इस देश की मुसलमान जनता को कटघरों में खड़ा नहीं कर सकते हैं और न दारा शिकोह, रसखान तथा रहीम की आड़ में उनके दुष्कर्मों को विस्मृति के गर्त में फेंक सकते हैं। इतिहास की लीपापोती हमें स्वीकार नहीं होनी चाहिए।

निश्चय ही अंग्रेजों ने हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य को हवा दिया और आजादी के बाद हमारे राजनीतिक दल एवं नेता इस विभाजकता का लाभ ले रहे हैं। लेकिन आजादी के साठ साल बाद कमसे कम अंग्रेजों को कोसना तो ठीक नहीं। वस्तुतः जब हिन्दू मुसलमान बने तो उनमें से अधिसंख्य ने धर्म का त्याग किया, पुरानी संस्कृति से लगाव नहीं तोड़ा। इसे तोड़ने का काम तो तबलीगी जमात या उनके जैसे संगठन करा रहे हैं। शल्यजी का कथन कि अंग्रेजों के आने के पहले हिन्दू-मुस्लिम सौमनस्य बढ़ रहा था, इसी संदर्भ में जाँचा परखा जाना चाहिए।

शल्यजी ने एक लेख में देश के बँटवारे के समय की हमारे “असुरों को भी लज्जित कर देनेवाला हिंसा का कुरूपतम उन्माद” प्रदर्शन तथा नेतृत्व की चरित्रहीनता से उत्पन्न गांधी के अवसाद का उल्लेख किया है। देश का बँटवारा ‘द्विराष्ट्र के सिद्धान्त’ पर हुआ; प्रायोजित हिंसा मुस्लिम-लीग द्वारा तथा भारत के कुछ हिस्से में प्रतिक्रिया स्वरूप ही हुई, ऐसे में शल्यजी की “हम” की अवधारणा समझ में नहीं आती। फिर आजादी के तुरत बाद नेतृत्व की चरित्रहीनता की बात भी आधारहीन हैं, क्योंकि तबतक उनके चरित्र का यह पक्ष उजागर होना बाकी था।

व्यवस्था के आधारभूत सुधार के रूप में शल्य जी का सुझाव है कि “मुसलमानों को हिन्दुओं से भिन्न एक समुदाय के रूप में नहीं देखकर दो तीन धर्म-सम्प्रदायों (शिया-सुन्नी) के रूप में देखा जाय और हिन्दुओं को दूसरा समुदाय नहीं देखकर अनेक धर्म सम्प्रदायों के रूप में देखा जाय और तदनुसार ही कानून बनाया जाय।”

विश्वास नहीं होता कि यशदेव शल्य जैसा विद्वान एवं चिन्तनशील व्यक्ति भी इतनी अव्यावहारिक सलाह दे सकता है।

भारत एक सिकूड़ता हुआ शातत्य (shrinking continuum) है। इसका विस्तार घटा है। अन्य कई हिन्दी लेखकों की तरह यशदेव शल्यजी इस तथ्य को न देखकर आत्ममुग्धता पूर्वक 'युनानो मिश्र रोमा' के मिटने तथा भारत के "टस से मस नहीं" होने की बात लिख जाते हैं। वे मुहम्मद इकबाल को राम की स्तुति, "सारे जहाँ से अच्छा"; और इस्लाम के "गंगा के दहाने में डूबने" के लिए तो याद करते हैं, लेकिन उनके ही "शिकवा" और पाकिस्तान के प्रवक्ता होने की बात के लिए नहीं।

अल-बेरूनी इस देश में हजार साल पहले ही आया था। उसने हिन्दुओं की मात्र चार जातियों के होने और एक साथ भोजन करने की बात तथा महमूद के आक्रमण से हिन्दुओं के धूल की तरह बिखरने तथा उनकी विद्या-विज्ञान के दूर चले जाने की बात लिखी है। बख्तियार खिलजी आदि ने इस प्रक्रिया को इतना आगे बढ़ाया कि सारा देश अज्ञान के घोर अंधकार में डूब गया; हम विसंस्कृति, जाति-प्रथा का विस्तार, छुआछूत, पर्दा आदि कुरीतियों के शिकार बने। ऐसी अवस्था में यशदेव शल्य को अपनी बातों पर पुनर्विचार करना चाहिए कि हिन्दू नष्ट नहीं हुए, कि "हिन्दू पराजित केवल सैनिक पक्ष में ही हुए हैं", और" यदि यह सांस्कृतिक दृष्टि इसकी सैनिक पराजयों की कारण हो तो वह पराजय भी भली।"

प्रजातंत्रवाद की चर्चा करते समय शल्यजी जनसाधारण के बौद्धिक एवं नैतिक स्तर की बात भी करते हैं। यहाँ मैं यह कह कर अपनी बात समाप्त करूँगा कि हमारे प्रजातंत्र की खामियों के लिए डिग्रीधारी संस्कृति निरक्षर अधिक उत्तरदायी हैं, उनका नैतिक स्तर का ग्राफ भी काफी नीचे है। आज भारतीय प्रजातंत्र यदि बचा हुआ है तो अक्षर-ज्ञान विहीन या तथाकथित कम पढ़े लिखे परम्परा ज्ञान सम्पन्न 'जनसाधारण' के चलते ही।

पुस्तक के दर्शन, साहित्य, भाषा, विषयक अन्य लेखों में शल्यजी की गहन विद्वता एवं चिन्तन की छाप है।

एक बात और। यह पुस्तक लगभग दो वर्ष पहले समीक्षार्थ आयी थी। हिन्दी के एक लेखक महोदय ने इसकी समीक्षा करने की स्वीकृति दी। बीसों बार फोन किया वे समय बढ़ाते गये। अन्त में डेढ़ पौने दो वर्ष बाद ना कर दिया। पुस्तक भी खो दी। लाचार होकर यह काम मुझे करना पड़ा ताकि और विलम्ब न हो।

पुस्तक चर्चा

प्रेम कविताओं का उदात्त स्वर"

पुष्पपाल सिंह*

प्रेम काव्य का सनातन और सार्वभौम विषय रहा है, कदाचित् सभी कवियों की काव्य-यात्रा का प्रस्थान बिंदु भी। कालिदास, शेक्सपीयर, सूरदास, मीराबाई, बुल्लेशाह, जायसी, आदि कवियों की एक सुदीर्घ परंपरा है जिन्होंने प्रेम-तत्त्व को अपनी-अपनी तरह जाँचा और परखा है। आधुनिक काल में भी प्रेम पर लिखने की परंपरा सतत प्रवहमान रही है किंतु जैसे-जैसे आधुनिकता, प्रौद्योगिकी के विकास और वैश्वीकरण के बढ़ते चरणों के मापने की प्रक्रिया काव्य-रचना में बढ़ी, प्रेम का विषय अपनी तरह से खुरदरी जमीन पर उतरा। साहित्य में आज इस सनातन विषय में पुनः रची बढ़ी है। कहानियों में भी कई पत्रिकाओं ने अपने 'प्रेम कथा विशेषांक' निकाले जिन्हें देख कर लगा कि प्रेम का बड़ा उथला-उथला और बाहरी-सा रूप साहित्य में आया है।

ऐसे में वे प्रेम-कविताएँ विशेष रूप से प्रभावित करती हैं जहाँ कवियों ने गहरे संवेदनात्मक स्तर पर उतर कर नये-नये बिम्बों में, प्रतीकों में प्रेमानुभूति को सूक्ष्मता में अभिव्यक्ति दी है, ऐसी अभिव्यक्ति जो देर तक प्राणों में आकुल बाँसुरी-सी बजती रहे। ये कविताएँ प्रेम की व्यक्तिगत अनुभूति को इस दिव्यता-बोध से अनुप्राणित करती हैं कि वह एक सार्वजनीन अनुभूति का आत्मतोष प्रदान करता है। प्रेम-काव्य के ऐसे ही बंजर-ऊसर समय में जो कविताएँ ध्यान आकर्षित करती हैं, उनमें सुनीता जैन के 'प्रेम में स्त्री' की कविताएँ हैं। प्रस्तुत संग्रह में 60 कविताएँ हैं, छोटी-छोटी, किंतु वस्तुतः वे एक लम्बी प्रेम कविता के विभिन्न दृश्य-बंध हैं जो प्रेम के विविध स्तरीय और बहुकोणीय स्वरूप से परिचित कराती हुई 'प्रेम में स्त्री' के विभिन्न रूपों-धरातलों से परिचित कराती हैं। कहीं वहाँ यह अनुभूति है कि प्रेम में स्त्री का अनुभूति-संसार किस तरह बदलता है, कहीं घर की कामकाजी स्त्री का प्रेम है, कहीं दफ्तरी जीवन जीती स्त्री की प्रेमानुभूति है, कहीं दाम्पत्य का मधुर रस और कहीं

* पुष्पपाल सिंह, पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला

**प्रेम में स्त्री : (कविता-संग्रह) सुनीता जैन, रेमाधन पब्लिकेशन्स प्रा. लि., नोएडा, मू. 75/- रु. (पेपरबैक संस्क.)

उसके खटराग में संवेदन-शून्य होती चली जाती स्त्री की पीर है, आदि आदि, पर वास्तव में ये कविताएँ एक लंबी प्रेम कविता की यात्रा के विभिन्न पड़ाव हैं—यह एक लंबी कविता थी। प्रेम की असम्भवता के विरुद्ध।” कुछ कविताएँ अपनी तरह से एक नया स्त्री-विमर्श भी इस क्षेत्र के लिए रचती हैं जिससे स्त्री-पुरुष के रिश्ते नए रूप में परिभाषित होते हैं। सघन-बिम्ब-योजना, समृद्ध कल्पना, अकुंठ भाव से अपनी बात कहने का साहस और काव्यात्मक संस्कारयुक्त भाषा इन कविताओं की शक्ति है। यहाँ प्रेम में, ‘स्त्री’ इतनी पूर्ण-काम है कि इस दिव्यानुभूति से गुजरना उसके लिए एक ‘घटना’ है : “प्रेम में स्त्री इतनी पूर्णकाम थी/कि उसे पाना नहीं था कुछ भी/न कहना था किसी से कुछ/क्योंकि वह थहो रही थी/सर्वांग सुंदरी, कोमल और/लवलीना।” प्रेम में स्त्री बहुरूपा और मायावी हो उठती है, कहीं उसके अंदर गीत सागर में मछरी-सी उतरती है। कहीं वह ‘देहातीत दिगंत में तिरोहित’ होने से पूर्व अपनी ही देह में बजती हुई तंत्री के तार-सी झनझनाती है और कहीं “अपनी जगह के वर्तुल में/अपनी महाप्रणय की रात में/स्त्री रचती है एक अनुष्ठान/अपनी तृप्ति का/अपनी ही सीमित ओक में।” प्रेम में स्त्री का व्यक्तित्व कैसे बार-बार नये रूप धरता उसे सुवासित करता है, कवयित्री अनेक सघन बिम्बों से उसे पकड़ने की चेष्टा करती है, ये बिम्ब उस प्रेमाभिव्यक्ति को एक अतीन्द्रियता का बोध देते हैं : “प्रेम में स्त्री जब जागेगी/उसके चेहरे की लुनाई में/लवण होगा सात समुद्र का।” “प्रेम में स्त्री/होती है वायवी/और मायावी/एक साथ।” प्रेम की इस महालीला में चारों ओर उजास-ही-उजास भरा है, अंधकार कहीं है ही नहीं। कहीं दाम्पत्य की छोटी-सी बात में प्रेम को जिस गहनता से तलाशा गया है, वह दांपत्य के खटराग को भी एक मधुर राग में तो बदलता ही है, उसमें जीवन जीने की एक नयी ‘रीत’ भी मिल जाती है। छोटी सी कविता ‘शब्द कोश से बाहर’ इस सत्य की प्रतीति इस रूप में कराती है “जिस दिन स्त्री ने कहा/“आज नहीं जाना कहीं/दफ़्तर में कह दो/घर पर है कुछ जरूरी काम”/उस दिन पुरुष के सम्मुख प्रस्तुत थी/एक संज्ञा-‘मधुरा’/शब्द कोश के बाहर/अपने व्यापकतम अर्थों में पहली बार।” शब्दकोश के अर्थों में न अँट पाने वाला ‘मधुरा’ संज्ञा में टलता स्त्री का व्यक्तित्व निश्चय ही प्रेम को दिव्यता के धरातल तक ले जाता है। स्त्री प्रेम में अपने पुरुष को भी एक नये रूप में रचती-सिरजती है, प्रेम में वह पुरुष को ‘परमेष्ठी’ की श्रेणी तक पहुँचा देती है : “स्त्री की इतनी उदग्रता में प्रेम की/ पुरुष हो रहा था/होता रहा है/पूर्ण परमेष्ठी।”

‘कामकाजी नारी’ कविता महानगरीय परिस्थितियों में किस प्रकार प्रेम को जीती है, थकाऊ दिनचर्या किस प्रकार उसे तोड़कर रख देती है, उन स्थितियों में प्रेम के लिए अवकाश कहाँ? घबराहट में हैंगर से खींचकर पहनी गयी पैंट-कुर्ती, पाँच मिनट में ही नहा कर गाड़ी चलाकर देने की कवायद इस नवविवाहिता को इस रूप में प्रस्तुत करती है : “दिल्ली की दौड़ती सड़कों पर /दौड़ रही थी एक और कामकाजी

स्त्री/बिना चूड़ी/बिना बिंदी/उस स्त्री की/बेहिसाब चिन्ताओं में/यह कहीं दर्ज नहीं था/कि नाश्ते में क्या खायेगा/उसका चौबीस घंटे पुराना पति।” प्रेम में स्त्री चोट खा कर जितनी आहत होती है, उसे ‘नदी और स्त्री’, ‘वट’, ‘अंधड़’, आदि कई कविताओं में वाणी मिली है, उसका यह एक बिम्ब द्रष्टव्य है—“प्रेम से लौटती स्त्री/छोड़ रही थी मिट्टी/बूढ़े वट की असमर्थ जड़ों-सी।” ये कविताएँ प्रेम में स्त्री के व्यक्तित्व के विभिन्न रूपों को तरह-तरह से आकलित करती हैं। सुनीता जैन प्रेम को ऐसी कोमल लचीली शंखपुष्पी के समान मानती हैं जिसे शब्दों, वायदों या पाणिग्रहण को लीक में नहीं बाँधा जा सकता, उसे विश्वास है तो इतना ही कि “प्रेम में स्त्री को झेलते चले जाना/पुरुष के बूते की बात नहीं थी।” कविताओं का स्त्रीवादी स्वर, जहाँ कहीं भी आया है, वह पुरुष-विरोध में नहीं है अपितु हर जगह एक सामंजस्य की तलाश की गयी है। इस स्थिति को बहुत सुन्दर रूप में ‘चुनौती’ कविता दर्शाती है जहाँ स्त्री के सामने प्रिय और कविता में से किसी एक को चुनने का प्रश्न उठता है तो वह प्रेम को चुन कर अपनी कविता भी बचा लेती है। घर के बाहर सारी कविता रख कर प्रेम को बचाने की यह अद्भुत अनुभूति घर और बाहर का सुर्चित तालमेल हैपति के पूछने पर कि कविता और मुझ में से तुम किसे चुनोगी/स्त्री उठी/और घर के बाहर/रख आयी सारी कविता/इस तरह बचाया स्त्री ने उसे/और बचायी/अपने भीतर कविता/चुनौती-दर-चुनौती/हर जन्म में।”

इस प्रकार सुनीता जैन की ये कविताएँ प्रेम की अतन्द्रियता को जीती हुई पाठक को एक ताजगी और आत्म-तोष की अनुभूति देती हैं। समकालीन कविता में प्रेम का यह अत्यंत उदात्त स्वर है।

हम कौन थे क्या हो गए!

नित्यानन्द श्रीवास्तव*

कार्ल मार्क्स से अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता रखने वाले अधिकांश अकादमिक एवं सबआल्टर्न बुद्धिजीवियों ने भारत सम्बन्धी अपने विचारों से गहरी एवं भयानक वैचारिक धुन्ध का निर्माण किया है। इस पूरी प्रक्रिया में वे एक तरफ तो उन्हीं औपनिवेशिक ताकतों के उत्तर-औपनिवेशिक गुलाम बनते चले गए हैं तो दूसरी तरफ मैकाले जैसे लोगों के सहयोगी भी सिद्ध हुए हैं जिनकी कवायद का उद्देश्य भारत से अपरिचय रखने वाले भारतीयों का निर्माण करना था। इस दुर्घटना ने वर्तमान चुनौतियों के परिप्रेक्ष्य में अपने देश के बुद्धिजीवियों के सामने एक अभूतपूर्व संकट उत्पन्न किया है। वैज्ञानिक और तकनीकी विकास के तमाम दावों के बावजूद या उनके कारण पृथ्वी पर जीवन के असन्तुलन और विनाश की तीव्र आशंका हमें विचलित कर रही है। भारत का परम्परागत ज्ञान और उसके प्रयोग हमारी कुछ मदद कर सकते थे, लेकिन अपने यहाँ के बुद्धिजीवियों में भयानक धुन्ध की तरह छाप इस बौद्धिक छल एवं प्रायोजित बेईमानी ने हमें स्वयं अपने आप से निर्वासित सा कर दिया है। आत्म-निर्वासन अथवा आत्म-उन्मूलन का यह दर्द निर्मल वर्मा के निबन्ध संग्रह 'आदि अंत और आरम्भ' के निबन्धों में कई आयामों में व्यक्त हुआ है। इस संग्रह के प्राक्कथन में निर्मल वर्मा 'आत्मशून्यता का अन्धकार' पद का प्रयोग करते हैं और स्पष्ट करते हैं कि "यह वह केन्द्रीय थीम है जो इन निबन्धों को एक सूत्र में बाँधे है।"¹ इस आत्म-उन्मूलन, आत्मनिर्वासन अथवा आत्मशून्यता के उत्तर-औपनिवेशिक दौर में निर्मल वर्मा ने भारत-दर्शन के अपने प्रयास में पश्चिम के कुछ चिन्तकों को सहयात्री बनाया है। (भारतीय चिन्तक की संवाद धर्मिता का यह सकारात्मक पक्ष है।) इन उद्भावनाओं का अवलोकन हम इस आलेख में करेंगे।

निर्मल वर्मा के अधिकांश निबन्धों में यूरोप के 'आधुनिक मनुष्य' के प्रति गहरी चिन्ता दीखती है। पिछले चार-पाँच सौ वर्षों में विकसित हुए इस 'आधुनिक मनुष्य' ने पूरी दुनिया पर अपना मॉडल जिस तरह थोपने की कोशिश की है, वह

* डॉ. नित्यानन्द श्रीवास्तव, प्रवक्ता हिन्दी, सी.जी.एन.पी.जी. कॉलेज, गोलागोकर्णनाथ, खीरी, पिन-262802

अनेक सभ्यताओं के लिए भयानक आघात से कम नहीं है। यह भी सही है कि अनेक देशों की सभ्यताएँ इस मॉडल से जूझ रही हैं। अफ्रीका के प्रसिद्ध चिन्तक और विचारक न्गुगी वा थ्योंगो लिखते हैं, "इस संघर्ष की शुरुआत लगभग 100 वर्ष पूर्व हुई, जब 1884 में यूरोप की पूँजीवादी ताकतों ने बर्लिन में बैठकर भाषा, संस्कृति और आबादी की दृष्टि से अत्यन्त विविधता से भरे समूचे महाद्वीप को विभिन्न उपनिवेशों का रूप देकर आपस में बाँट लिया।... बर्लिन सम्मेलन में अफ्रीका का जो विभाजन किया गया और जो आज भी बरकरार है, वह हाथ में बाइबिल लहराते कूटनीतिज्ञों के दावों के बावजूद प्रकट रूप में आर्थिक और राजनीतिक था लेकिन यह सांस्कृतिक भी था।"² भारत के सन्दर्भ में भी यही स्थिति रही है। भारत में कार्यरत एक धर्मप्रचारक मार्शमैन (1768-1837) की एक टिप्पणी देखें "धर्मप्रचार से इंग्लैण्ड को रूई भेजने तथा बाइबिल की सत्यता के मार्ग खुल जाएँगे।"³ पश्चिम के बौद्धिक नवोत्थान के प्रवर्तकों को इस तथ्य ने उद्वेलित किया है या नहीं यह एक रोचक प्रश्न है।

जाहिर है, यह तस्वीर का दूसरा पक्ष है। आज के विज्ञानवादी माहौल में अपने को जाँचने-परखने के लिए यूरोप के इन दोनों चेहरों के आकलन का प्रयत्न आज की जरूरत भी है।

यूरोप, कई मायनों में खण्डित दृष्टिबोध का पर्याय लगता है। यहाँ 'आधुनिक मनुष्य' यहूदी-ईसाई परम्परा के आरम्भ से अपनी पहचान बनाने की विवशता या योजना में अब तक अपने बौद्धिक अतिरेकों का बुरी तरह शिकार बनता गया है। यह एक विशिष्ट भावबोध को विस्मृत करने की कोशिश थीनिर्मल वर्मा इसे 'सम्पूर्ण बोध' की संज्ञा देते हैं और लिखते हैं "किन्तु जो विस्मृत है, वह मृत नहीं हो जाता, एक बार जो अनुभव हो चुका है, वह हमेशा बना रहता है, जीवन में नहीं तो स्मृति में, नींद में, स्वप्न में, अवचेतन में।" अपनी वैचारिक और वैज्ञानिक कशमकश को यूरोपियों ने अपने सभी 'उपनिवेशों' पर जिस तरह लादने की कोशिश की है, उससे उनके तथाकथित 'उपनिवेश' अपने मूल से कटने लगे उसी यूरोपीय 'मॉडल मैन्' आधुनिक मनुष्य की तरह। यह लगभग सभी सेमेटिक मजहबों का मूल स्वभाव जान पड़ता है इस्लाम का विकास भी इसी तरह हुआ है और मार्क्सवाद का भी। यह एक अन्तहीन वैचारिक कवायद जान पड़ती है जहाँ मनुष्य अपने आरम्भ की तलाश में अपने पूर्वजों या पूर्ववर्ती सभ्यताओं के अंत की घोषणा करता हुआ दीखता है, अपनी उस कोशिश के साथ, जहाँ वह 'कयामत' की प्रतीक्षा कर रहा होता है।

मनुष्य में 'सम्पूर्ण बोध' के सूत्रों के विरल पड़ते जाने के कारण 'आत्म-विभक्त' मानस का विकास अधिक हुआ है। भारतीय परम्परा में जहाँ 'अन्य' 'आत्म' से सम्पृक्त है वहीं यूरोप में 'अन्य' वास्तविक रूप में 'अन्य' है चाहे वह भौगोलिक परिवेश के कारण दूसरी मानव सभ्यता हो या प्रकृति या सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड। लेकिन, पूरी

यूरोपीय मनीषा का सम्पूर्ण सच यह नहीं है। निर्मल वर्मा जिस नींद, स्वप्न और अवचेतन की बात करते हैं यूरोप का एक सच वह भी है। अपनी इस नींद में जिन स्वप्न-चित्रों की रचना यूरोप करता रहा है वह भारतीयों के लिए संवाद धर्मिता का आधार बन सकता है। अंग्रेजी साहित्य में उन्नीसवीं शती के प्रसिद्ध कवि विलियम वर्डस्वर्थ की एक कविता 'द वर्ल्ड' में कवि की भाव-विह्वल आकांक्षा है

—Great God! I'd rather be
A pagan suckled in a creed outworn;
So might, I, standing on his pleasant lea
Have glimpses that would make me less forlorn;
Have sight of Proteus rising from the sea;
Or, hear old Triton blow his wreathed horn.⁵

(हे महान ईश्वर! मैं परित्यक्त धर्म को मानने वाला एक पेगन बनना चाहूँगा जिससे कि इस हरे-भरे मनोहारी घास के मैदान में खड़ा हुआ (मैं) एक झलक देख सकूँ, समुद्र से निकलते हुए प्रोटियस की या सुन सकूँ वृद्ध ट्राइटन को शंखनाद करते हुए... जो मेरे अकेलेपन को दूर कर दे)

इस कविता का निहितार्थ केवल 'रेनेसाँ' और 'आधुनिकता' को प्रश्नांकित करना नहीं हो सकता। यूरोप ने आधुनिक मनुष्य के साथ 'ईश्वर' को जिस रूप में आविष्कृत किया है जिस 'ईश्वर' की मृत्यु की घोषणा भी उसने की उस रूप के प्रति इसमें कहीं न कहीं एक बेचैनी का भाव भी देखा जा सकता है। इसे सिर्फ, जड़ों की तरफ लौटने की कोशिश के रूप में भी नहीं देखना चाहिए बल्कि इसे मनुष्य के 'सम्पूर्ण बोध' की स्मृति या उसके स्वप्न-चित्र की तरह देखा जा सकता है।

लेकिन, वास्तविक खतरा भी यहीं से शुरू होता है। यूरोप के आधुनिक मनुष्य ने अपने ही इस सम्पूर्ण बोध की स्मृति को जिस बुरी तरह कुचला है उससे अन्य सभ्यताओं के प्रति उसके प्रकट व्यवहार के बीच के साम्य को हम नजरअंदाज नहीं कर सकते। अपने प्रारम्भिक सम्पर्क के दिनों में भारतीयों के प्रकृति के प्रति अनुराग को उन्होंने उसी हिकारत की दृष्टि से देखा जिस तरह ईसाइयत ने अपने प्रारम्भिक दिनों में 'पेगनों' को देखा था। यूरोप ने जिस आन्तरिक मरुस्थल को अपने अन्दर फैलने दिया उस उपनिवेशीकरण का पहला शिकार वह खुद हुआ उसका काल-बोध खण्डित हुआ। निर्मल वर्मा लिखते हैं "भारत में यूरोप का उपनिवेशवाद सिर्फ भौगोलिक सीमाओं तक सीमित नहीं था, बल्कि उसकी जड़ें गहरे जाती थीं। इसने भारत के काल-बोध को भी अपना निजी उपनिवेश बनाने की चेष्टा की।"⁶

आज के समय में शक्ति, धन और तथाकथित विकास के मानकों का केन्द्र यूरोप और अमेरिका जिस तरह बने हैं तो स्पष्ट है कि यह खतरा विश्व की तमाम

मानव सभ्यताओं पर है। बल्कि साफ ढंग से कहा जाए तो पृथ्वी पर आज जीवन ही संकट में है। पश्चिम ने मनुष्य के इस संकट का सामना करने के लिए दो वैचारिक उपकरण तलाशे मार्क्सवाद और उत्तर-आधुनिकता। मार्क्सवाद अंततः आधुनिकता की ऊहापोह में जन्मा। स्वयं मार्क्स भारत के बारे में जो धारणा बनाते हैं, उसका आकलन करें। मार्क्स ने भारत सम्बन्धी कई आलेख लिखे हैं, उनमें से एक 'भारत में ब्रिटिश शासन' से कुछ उद्धरणों को देखा जा सकता है :

1. लेकिन, इंग्लैण्ड ने तो भारतीय समाज के पूरे ढाँचे को तोड़ डाला है और उसके पुनर्निर्माण के अभी तक कोई चिह्न नहीं दिखाई दे रहे हैं।... ब्रिटेन के शासन के नीचे हिन्दुस्तान अपनी सारी प्राचीन परम्पराओं और अपने सम्पूर्ण पुराने इतिहास से कट जाता है।⁷

2. अंग्रेजी हस्तक्षेप ने इस प्रकार उन छोटी-छोटी अर्द्धबर्बर, अर्द्धसभ्य बस्तियों को, उनके आर्थिक आधार को नष्ट करके, छिन्न-भिन्न कर डाला है और ऐसा करके उसने एशिया की महानतम और सच कहा जाए तो एकमात्र सामाजिक क्रान्ति कर डाली है।⁸

3. ...प्रश्न यह है कि क्या एशिया की सामाजिक अवस्था में बिना एक बुनियादी क्रान्ति के मानव जाति अपने लक्ष्य तक पहुँच सकती है? यदि नहीं तो, मानना पड़ेगा कि इंग्लैण्ड ने चाहे जितने पाप किए हों, इस क्रान्ति को लाने में इतिहास के एक अचेतन साधन का काम अवश्य किया है।

अतः एक प्राचीन सभ्यता के नष्ट होने का दृश्य हमारी व्यक्तिगत भावनाओं के लिए चाहे जितना भयानक और कष्टदायक रहा हो, ऐतिहासिक दृष्टि से हमें गेटे के शब्दों में यह कहने का अधिकार है कि :

"क्या उस यातना से हमें दुखी होना चाहिए जो एक महत्तर सुख का निर्माण करती है?

क्या तैमूर का शासन

अनगिनत आत्माओं को खा नहीं गया था?"⁹

'बुनियादी क्रान्ति' और 'मानव जाति के लक्ष्य' के लुभावने शब्द-विन्यास के पीछे उसी 'आधुनिक मनुष्य' का खौफनाक, बीभत्स, बर्बर और हिंसक चेहरा दीखता है। आप सोच सकते हैं कि सोवियत रूस एवं अन्य पश्चिमी देशों में इस 'बुनियादी क्रान्ति' के असफल होने के बाद लोग चर्च एवं मस्जिदों की ओर ही गए। क्रान्ति के बाद जन्मे मनुष्य का यह प्रत्यावर्तन भारत के वामपन्थी एवं सेकुलरपन्थी विद्वानों को दुःखद एवं आश्चर्यजनक लगना चाहिए। निर्मल वर्मा इस बहस में एक सकारात्मक हस्तक्षेप करते हैं "अतः प्रश्न आधुनिकता से छुटकारा पाना नहीं है, बल्कि स्वयं आधुनिक-बोध को उसकी ऐतिहासिकता से मुक्त करना है।"¹⁰

जाहिर है कि मार्क्स यहाँ वही बुनियादी गलती कर रहे हैं जो 'दारुल इस्लाम'

और 'ईश्वर का राज्य' निर्मित करने वाली मानसिकता कर रही है। मनुष्य और जीवन के निर्माण एवं संरक्षण के चिन्तन पर जब प्रविधि का निर्माण और संरक्षण प्रभावी होने लगता है तब इस प्रकार का वैचारिक विचलन अस्वाभाविक नहीं है। यूरोप की अधुनातन वैचारिक शृंखलाओं ने निषेधमूलक प्रत्ययों को संचार माध्यमों से जिस तरह प्रक्षेपित किया है उससे एक वैचारिक हड़बौंग पूरे विश्व-परिदृश्य पर दिखाई पड़ती है। बिल्कुल हाल-फिलहाल की घटनाओं को देखें अपने देश में 'विशेष आर्थिक क्षेत्र' (सेज) के निर्माण के स्वयं में कहीं कोई वैचारिक तालमेल नहीं दीखता। इस सन्दर्भ में रमेशचन्द्र शाह की कविता 'नए साल की अगवानी में' का यह अंश पढ़ें

‘जैसेडेढ़ सदी पहले की

‘जेण-लिखी’ वह

रेड इंडियन किसी मुखिया की

सिटी गवर्नर वाशिंगटन को

माता है यह भूमि हमारी

कैसे इसका मोल चुका सकते तुम हमको?’¹¹

यह एक सहज आत्मीय लगाव है, जहाँ सिर्फ मनुष्य ही नहीं बल्कि प्रकृति के सभी ज्ञात-अज्ञात सन्दर्भ एक-दूसरे के लिए 'अजनबी' की तरह व्यवहार नहीं बरतते। एक ऐसी अखण्डित सम्पूर्ण समदृष्टि जो यह अनुभव करती है कि “जैसे प्रकृति के विभिन्न पदार्थ और तत्त्व एक सूक्ष्म आन्तरिक शृंखला में अविकल रूप से निबद्ध हैं, उसी प्रकार प्रकृति एवं मानव का भी अत्यन्त घनिष्ठ अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, क्योंकि दोनों एक ही अनादि, अनन्त, अव्यक्त परम तत्त्व के आभास हैं।”¹²

क्रान्ति के बाद जन्मे 'मनुष्य' की वैचारिक उपलब्धियों का दस्तावेज इस परिधि का संस्पर्श नहीं करता। उत्तर-आधुनिक वैचारिकी ने जिस निषेधमूलक केन्द्रविहीनता की बात की है उससे भी 'आधुनिक मनुष्य' की संवेदना में 'परम तत्त्व' का यह अंश जुड़ नहीं पाता। निर्मल वर्मा लिखते हैं “आधुनिक मनुष्य के अन्तर्विरोधों की पीड़ा और उनका अतिक्रमण करने का आध्यात्मिक गौरववह (उत्तर-आधुनिकता) दोनों के प्रति निरपेक्ष जान पड़ती है। आत्म-विभाजित मानस में उद्बोधन के किसी भी चरण में अपने अखण्डित सम्पूर्णत्व की ओर मुड़ने की आशा बनी रहती है, लक्ष्यहीन बहुलता की अवस्था में वह आशा भी लुप्त हो जाती है।”¹³

समस्या यह नहीं कि पश्चिम का यह 'मॉडल मैन' ज्ञान-विज्ञान, एवं अनुसन्धान के प्रायः सभी अनुशासनों को अपने बौद्धिक अतिचार से आक्रान्त कर रहा है, समस्या यह है कि हल खोजने का दावा करने वाली मार्क्सवादी और उत्तर-वैचारिकी स्वयं उसी बौद्धिक अतिचार से त्रस्त हैं। इन दोनों अनुशासनों को अपने आपको समाधान का अन्तिम सूत्र और एकमात्र रास्ता मानने का तर्क हास्यास्पद और चिन्तित करने वाला है ठीक उसी तरह जब हम इस्लाम और ईसाइयत को यह दावा करते हुए देखते हैं कि

ये (उनकी) पवित्र पुस्तकें अन्तिम हैं और इसके बाद आने वाली कोई भी पुस्तक अपवित्र है, त्याज्य है और नष्ट कर देने योग्य है। दुर्भाग्य से इस तरह का आत्म-विभाजन भारत के बुद्धिजीवियों में भी कम नहीं है। 'सत्य' के अन्वेषण का दावा करना और ऐसी समाज-व्यवस्था का समर्थन करना जो दूसरे के प्रति विद्वेष के वातावरण रचेइस अन्तर्विरोध की पड़ताल स्वामी विवेकानन्द जैसे मनीषियों ने की, उन्होंने 'व्यावहारिक वेदान्त' का उद्घोष किया। निर्मल वर्मा सिमोन वेल, गोएटे, जार्ज आरवेल एवं हर्जन जैसे विद्वानों को अपनी चिन्तन-यात्रा का सहयात्री बनाते हैं और पश्चिम के एक दार्शनिक को उद्धृत करते हुए लिखते हैं “हम चेतना के संवाहक न बनकर बुद्धि की रखैल बनकर रह गए हैं।”¹⁴

सम्पूर्ण विश्व जिस एक आन्तरिक व्यवस्था से संचालित हो रहा है, उससे छेड़छाड़ के दुष्परिणाम हमारे सामने हैं। हमारी बुद्धिवादी वैचारिकता का विस्वादी स्वर इस आन्तरिक व्यवस्थाजिसे हमारे पूर्वजों ने 'ऋत' की संज्ञा दी थीसे यदि आत्मीय संवाद स्थापित नहीं करता तो यह तय है कि तमाम बौद्धिक कर्मकाण्डों के बावजूद संकट मनुष्य के जीवन पर ही है। प्रो. रघुवीर सिंह ने एक विचारक प्रीगोजीन को उद्धृत करते हुए कहा है “गत वर्षों में प्रीगोजीन ने प्रकृति के प्रतिवर्त्य और अप्रतिवर्त्य (reversible and irreversible) सम्बन्धों में सामंजस्य स्थापित करने और उसके साथ अभिनव संवाद स्थापित करने की आवश्यकता पर बल दिया है। यह नवीन संवाद प्रकृति की एकता और उसके जीवन्त, सम्मोहक तथा नैतिक स्वरूप को आधार मानकर ही हो सकेगा। प्रीगोजीन के अनुसार प्रकृति एक यन्त्र न होकर मनुष्य के समान ही चेतन तत्त्व है।”¹⁵

निर्मल वर्मा अपने निबन्धों में जिस 'आत्म' की बात करते हैं उसका अनुभवन इस बिन्दु पर हमें समस्त वैचारिकता का निहितार्थ जान पड़ता है। यह यात्रा परत-दर-परत बन्द क्वाड्रों को जिस खूबी से खोलती चलती है मनुष्य का अपना अन्तर्मन ही उसे एक साथ विचित्र, खौफनाक और प्रेरक लग सकता है। लेकिन यह तो उस आत्मबोध की शुरुआत है निर्वैयक्तिकरण जिसका प्रथम सोपान है। निर्मल वर्मा इस सन्दर्भ में एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं यह साहित्यकार को केन्द्र में रखकर कही गई बात है, पर इसका उपयोग ज्ञान के विविध अनुशासनों के अभ्यासियों के लिए भी जरूरी है “हर व्यक्ति के अनुभव-सत्य को दर्शाने के लिए स्वयं लेखक को अपनी कविता-कहानी में निर्वैयक्तिक होना पड़ता है। इस दृष्टि से एक लेखक और संन्यासी के बीच भेद बहुत कम रह जाता है दोनों को अपनी साधना का फल प्राप्त करने के लिए अपने अहं के दुराग्रहों से मुक्त होना पड़ता है।...यह एक विचित्र विरोधाभास ही माना जाएगा कि हम बाहर से आरोपित प्रतिबद्धताओं से मुक्ति पाकर ही अपने साहित्यिक दायित्व को निभा पाते हैं।”¹⁶

लेकिन, निर्वैयक्तिकरण की प्रक्रिया इतनी सरल नहीं है। मनुष्य ने अपने

अन्तर्विरोधों, अहं के दुराग्रहों, आरोपित प्रतिबद्धताओं को जिस स्रोत से प्राप्त किया है उसकी समझ आज एक अपरिहार्य आवश्यकता है। वास्तव में यह स्रोत मनुष्य की उस विचार-शैली में है जहाँ वह स्वयं को इस पूरी विश्व-रचना के केन्द्र में देखता है अपने आपको ईश्वर की सबसे महत्वपूर्ण, विकसित एवं अन्तिम कृति बताता है और इस प्रकार यह सोचता है कि अन्य जीव, अजीव या यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसके क्रीतदास हैं और उसे इन पर स्वामी की तरह व्यवहार करना चाहिए। मनुष्य के लिए यही स्वाभाविक माना गया कि वह स्वयं को सम्पूर्ण प्रकृति तथा समस्त जीवों का नियंत्रक माने। साम्राज्यवादी विस्तार की प्रक्रिया में पश्चिमी देशों से अन्य देशों में भी यह विचार फैला और प्रकारान्तर से यूरोपीय मनुष्य की श्रेष्ठता भी स्थापित होती गई। धर्मपाल लिखते हैं “इसे ही साकार करने के लिए दर्शन, साहित्य, विज्ञान और प्रौद्योगिकी की ऐसी दिशाएँ और ऐसे संस्थान विकसित किए गए और उन्हें ऐसी दिशाओं में नियोजित किया गया तथा उनकी ऐसी व्याख्याएँ की गईं, जिससे कि इस मानव-केन्द्रित दृष्टि की निर्विवाद प्रतिष्ठा हो और अन्ततः उच्च श्रेणी के यूरोपीय या पश्चिमी मनुष्य के लक्ष्यों की रक्षा और पोषण हो सके।”¹⁷

फिर भी, प्रश्न यह नहीं है कि हमें भारतीय मनुष्य को यूरोपीय मनुष्य के मुकाबले खड़ा करके अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करनी है। चिन्तन का विषय यह है कि आज हम अपनी ही पहचान के बारे में संशयग्रस्त हैं। एक वैचारिक स्रोत जिसे आज के सन्दर्भों में ‘भारतीयता’ कहा जा सकता है भारतीयता यानी भारत का स्वभाव अपनी चेतना पर इकट्ठा होते गए, अहं के दुराग्रहों एवं आरोपित प्रतिबद्धताओं के आवरण को उतार फेंकने का उपक्रम जाहिर है, इसकी जरूरत जितनी हमें आज है उतनी पहले कभी नहीं पड़ी। निर्मल वर्मा लिखते हैं “सही अर्थों में भारतीयता का प्रश्न एक लेखक और विचारक के लिए ही नहीं, बल्कि हर संवेदनशील भारतीय के लिए अपनी खोई हुई पहचान को ऐतिहासिक विस्मृति के कुहासे से निकाल कर दिन के उजाले में लाना है, ताकि हम अपने ‘चेहरे’ को वैसा ही देख सकें, जैसा वह है...”¹⁸

कुछ लोगों को भारत का समाज जटिल और इसकी परम्पराएँ विरोधी लगती रही हैं। ऐसे विद्वान इन परम्पराओं के विरोधी लगने वाले स्वयं से अक्सर परेशान दिखते हैं। उन्हें इस बात से भी परेशानी होती है कि अनेक जातियों, भाषाओं, रीति-रिवाजों, सम्प्रदायों और विचित्र-विचित्र प्रकार की मान्यताओं को मानने वाले भारत की कोई मूल संवेदना भी हो सकती है क्या? ये विद्वान इस बात से भी चिंतित हैं कि निर्मल वर्मा यूरोप की बात करते समय ‘द अदर साइड ऑफ यूरोप’ के तथ्य रखते हैं लेकिन जब वे भारत की बात करते हैं तो उन्हें हमेशा एक केन्द्रीय मूल तत्त्व और संवेदना दिखाई पड़ती है। इन विद्वानों का आग्रह है कि निर्मल वर्मा को ‘द अदर इंडिया’ की बात भी करनी चाहिए थी जैसे यदि अध्यात्म का सन्दर्भ लें तो यहाँ कुछ लोग अध्यात्म को अन्तिम सत्य मानते हैं तो चार्वाक जैसे कुछ लोग पदार्थ को।¹⁹

मुझे यह लगता है कि ये विद्वान अपने प्रश्नों को भली-भाँति समझते हैं क्योंकि उन्हें बहुत अच्छी तरह पता है कि ‘अदर साइड ऑफ...’ की बात करने वालों के साथ नाजियों के लेबर कैम्पों और साइबेरिया की जेलों में किस तरह का व्यवहार किया गया है। और, इन्हें यह भी पता है कि भारत में वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः का सिद्धान्त चलता है जिसके अनुसार चार्वाक को ऋषि कहा गया और उस मार्क्स को भी जिसके विचार नितान्त भारत-द्रोही हैं। मुझे नहीं लगता कि ये विद्वान मेरा सुझाव मानेंगे, फिर भी इन्हें ‘द अदर साइड ऑफ सेल्फ’ देखना चाहिए कहीं कोई एक महीन तार इनकी सारी अकादमिक बहसों, प्रतिबद्धताओं एवं स्थापनाओं के बीच से गुजरता हुआ उस क्षण का स्पर्श तो नहीं कर रहा जहाँ ये स्वयं या इनके परिवार का कोई सदस्य किसी मूर्ति, किसी नदी या किसी पशु के प्रति मातृभाव रखता हुआ एक क्षण के लिए नतमस्तक हो गया हो!

गोस्वामी तुलसीदास रामकथा का प्रारम्भ ‘स्वान्तः सुखाय’ करते हैं और पूरी कथा कह लेने के बाद की गई उनकी उद्भावना इस बहस में एक सार्थक संवाद प्रस्तुत करती है। गोस्वामी जी लिखते हैं

मत्वा तद्रघुनाथ नाम निरतं स्वान्तस्तमः शान्तये,
भाषा बद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्।

‘स्वान्तस्तमः’ और ‘आत्मशून्यता का अन्धकार’ इन दोनों पदों की चिन्ताएँ समान हैं। यह अनिवार्य रूप से हमें अपने ‘आत्म’ से अलग करता है। यह आत्म-निर्वासन ‘हमारे दैनिक जीवन का अभ्यास बन चुका है।’ निर्मल वर्मा लिखते हैं, “ऊपर की बीमारियाँ दिखायी देती हैं किन्तु जो कीड़ा हमारे अस्तित्व की जड़ से चिपका है, जिससे समस्त व्याधियों का जन्म होता है आत्मशून्यता का अन्धकार उसे शब्द देने के लिए जिस आत्मबोध की जरूरत है, हम आज उससे भी वंचित हो गए हैं।”²⁰

बल्कि, इस स्तर पर देखें तो अनेक जातियों, सम्प्रदायों एवं मान्यताओं के कारण अलग-अलग दिखने वाला भारतीय मनुष्य अपनी जीवन यात्रा का निहितार्थ आत्मशून्यता के अन्धकार से मुक्त होने में ही समझता है। यह विचार न जाने कितनी सहस्राब्दियों से व्यक्ति एवं समाज-जीवन की उद्यमशीलता के सभी आयामों का प्रवर्तक बना हुआ है। इसी कारण भारतीय जन सृष्टि को अविभाज्य समग्रता में देख सके हैं। पर्वतों, नदियों के प्रति आदर एवं श्रद्धा का भाव, पशु-पक्षियों के लिए अंश निकालना, शादी-विवाह में नदियों, कुओं आदि को पूजना और उन्हें निमन्त्रित करनाये सभी व्यवहार उसी मौलिक अन्तर्दृष्टि के परिचायक हैं। प्रकृति की आन्तरिक एकता और उसकी अखण्डता का आत्मसातीकरण समस्त भारतजनों की आत्मचेतसु यात्रा का अभिन्न अंग रही है। महाकवि भवभूति ने इसे बड़े रोचक ढंग

से काव्यात्मक शैली में इस तरह व्यक्त किया है

व्यतिषजाति पदार्थान्तरः कोऽपि हेतुर्न
खलु बहिरूपाधीन्प्रीतयः संश्रयन्ते ।
विकसित हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः॥²¹

तात्पर्य यह कि प्रकृति की वास्तविक पहचान और उसके गूढ़ रहस्य को बाहरी कारणों से नहीं समझा जा सकता। कोई न कोई एक सूक्ष्म दैवी अन्तःसूत्र है, जो सभी भौतिक विविधताओं को नियन्त्रित और प्रकट करता है।

निस्सन्देह, यह सूक्ष्म दैवी अन्तःसूत्र समस्त भारतजनों में उनकी मूल अन्तर्वृत्ति की तरह काम करता है। इसलिए घर, परिवार, समाज, राष्ट्र यहाँ तक कि मृत्यु के अर्थ-सन्दर्भ या उनकी अर्थच्छवियाँ पश्चिम से भिन्न हो जाती हैं। आदि, अन्त और मृत्यु के अर्थ-संसार को उद्घाटित करते हुए निर्मल वर्मा कहते हैं: “कैसा अन्त? क्या कोई ऐसी जगह है, जिसे हम अन्त कहकर छुट्टी पा सकें? जिस जगह एक नदी दूसरी नदी में समर्पित हो जाए और दूसरी अविरल रूप से बहती रहे, वहाँ अन्त कैसा? हिन्दू मानस में कोई ऐसा बिन्दु नहीं जिस पर अंगुली रखकर हम कह सकें, यह शुरु है, यह अन्त है। यहाँ कोई आखिरी पड़ाव, ‘जजमेंट डे’ नहीं जो समय को इतिहास के खण्डों में बाँटता है। नहीं, अन्त नहीं है और मरता कोई नहीं, सब समाहित हो जाते हैं, घुल जाते हैं, मिल जाते हैं।”²²

जैसा कि भवानी प्रसाद मिश्र ने कहा है, “आकाश का विस्तार आमन्त्रण है, बाधा नहीं है। कोई भी बड़ा छोटा पंछी आधा नहीं है।” हम यह अनुभव क्यों नहीं कर सकते कि हमारी चेतना पर विस्मृति की राख जो पिछली कुछ शताब्दियों में जमा होती गई है उसको हटाकर यदि हम उस सार्वभौम सत्य का अनुभवन कर सकें तो यह उस यात्रा की चरितार्थता होगी और शायद पूर्णता भी। अपने पूर्वज वैदिक ऋषियों के साथ अकुण्ठ स्वर में तब शायद हम गा सकें

यः इमे रोदसी उभे अहमिन्द्रमतुष्टवम्
विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्म इदम् भारतम् जनम् ।

ऋग्वेद 3/53/12

सन्दर्भ

1. आदि अन्त और आरम्भ : निर्मल वर्मा : प्राक्कथन से
2. भाषा संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता : न्युगी वा थ्योंगो : अनुवादक आनन्द स्वरूप वर्मा : सारांश प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 13-14
3. क्रिश्चियन मिशनरीज इन बंगाल (1793-1833) : के.पी. सेन गुप्ता, पृष्ठ 59

4. आदि अन्त और आरम्भ, पृष्ठ संख्या 29
5. दि आक्सफोर्ड बुक ऑफ इंग्लिश वर्स 1250-1918 : सं. आर्थर क्विलर कूच : सं. 1974
6. भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र : निर्मल वर्मा, पृष्ठ संख्या 49
7. 8. 9. भारत सम्बन्धी लेख : कार्ल मार्क्स : पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लि. नई दिल्ली : अनुवादक ओमप्रकाश संगल, पृष्ठ संख्या 29-36, संस्करण 1983
10. आदि अन्त और आरम्भ, पृष्ठ संख्या 39
11. साहित्य अमृत मासिक : मार्च 2007 : सं. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी, पृष्ठ संख्या 22
12. पर्यावरण एवं विकास : प्रो. रघुवीर सिंह : प्रकाशक भारतीय लोक प्रशासन संस्थान 1999, पृष्ठ संख्या 4
13. आदि अन्त और आरम्भ, पृष्ठ संख्या 41
14. वही, पृष्ठ संख्या 47
15. पर्यावरण एवं विकास : प्रो. रघुवीर सिंह, पृष्ठ संख्या 13
16. आदि अन्त और आरम्भ, पृष्ठ संख्या 126-127
17. भारत की पहचान : धर्मपाल, पृष्ठ संख्या 101-102
18. आदि अन्त और आरम्भ, पृष्ठ संख्या 123
19. पल प्रतिपल : जुलाई-सितम्बर 2001, पृष्ठ संख्या 146
20. आदि अन्त और आरम्भ : प्राक्कथन से
21. उत्तररामचरितम् : भवभूति : 6:12
22. कला का जोखिम : निर्मल वर्मा, पृष्ठ संख्या 157

भारतीय संस्कृति की अनोखी पहचान उत्तर कुरु

कु. अपराजिता राय 'वर्षा' एम.ए., पी.एच.डी.*

श्री कुबेरनाथ राय एक ऐसे साहित्यकार थे जिन्हें अपनी धरती, देश, अपना निसर्ग सब कुछ जी-जान से प्यारा था। भारतीय संस्कृति में इनकी अटूट आस्था थी। इनका साहित्य गाँव-जवार की मिट्टी की सुगन्ध, लोक गीत, लोक नृत्य के मधुर स्वरोँ एवं लोक संस्कृति के मधुमय भावनाओं से सुसज्जित है। इनका सम्पूर्ण साहित्य भारतीय संस्कृति को समर्पित है। वे दर्शन, साहित्य, कला एवं उन सभी परम्पराओं को महत्वपूर्ण मानते हैं जो व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को सबलता देती हैं। इस सबलता का मुख्य कारण आर्य-आर्येतर समन्वय है। श्री राय का सारा लेखन मनुष्य, धरती और ईश्वर के त्रिक को सम्पूक्त करके मानव कल्याण की प्रेरणा देता है। इन्होंने प्राचीन मिथकों की नई व्याख्या प्रस्तुत करते हुए एक गहरे सांस्कृतिक विवेक का प्रमाण दिया है। एक ओर प्रकृति से अनन्य प्रेम दूसरी ओर सूक्ष्म अवलोकन और स्वस्थ मनन से हिन्दी साहित्य जगत को नये दिशा बोध का राग अर्जित कराया है। इन्होंने लोक संस्कृति के मधुमय चित्रों को साहित्य के दर्पण में उतारकर वैदिक संस्कृति से जोड़ने का अद्भुत प्रयास किया है। इनकी रचनाओं से ही यह बात प्रामाणिकता पा जाती है कि कुबेर नाथ राय ने सांस्कृतिक अनुभवों को व्यक्त करने के लिए अद्वितीय निबन्ध शैली विकसित की। इनके साहित्य में भारतीय संस्कृति का वैविध्य बड़े चटक रूप में प्रकट हुआ है। एक ओर यदि वे संस्कृति, इतिहास, दर्शन तथा साहित्य के मर्म को विलक्षण ढंग से खोलते हैं तो दूसरी ओर लोक जीवन में इसकी व्याप्ति और विस्तार का संश्लेष भी दिखाई देता है। लेखक ने अपने साहित्य में शाश्वत समयातीत का मर्म चुना है। इनका रस आखेटक मन वैदिक साहित्य, भारतीय तन्त्र साधना, वैष्णव रस परम्परा में गोते लगाते हुए भारतीय संस्कृति के तह तक जाकर भारतीय इतिहास की बुनावट-बनावट में आर्य पितर के साथ द्रविड़-निषाद, किरात जातियों के अवदान और कायस्थ, अहीर, धोबी आदि विभिन्न जातियों के मूल उत्स और उनकी परम्पराओं की तलस्पर्शी छानबीन करता है।

* ग्राममतसा, पोस्टजीवपुर, जनपदगाजीपुर (उ.प्र.) पिन-232340

आर्य आर्येतर समन्वय से जुड़ी मुख्यतः चार कृतियाँ श्री राय के अन्वेषण की अदम्य क्षमता को दर्शाती हैं। 'निषाद बाँसुरी' गंगातीरी लोक संस्कृति के निर्माण में निषादों के योगदान की महिमा का आख्यान प्रस्तुत करती है तो मन पवन की नौका, इण्डोनेशियाजावा, सुमात्रा, बालीद्वीपबर्मा, स्याम, कम्पूचिया, वियतनाम आदि देशों अर्थात् दक्षिण-पूर्व एशिया के वृहत्तर भारत की संस्कृति एवं उसकी बनावट-बुनावट में द्रविण एवं निषाद नस्ल के अवदान की प्रतिष्ठा करती है। किरात नदी में चन्द्रमधु का सम्बन्ध भारत की किरात संस्कृति से है, जिसका अस्तित्व आज भी पूर्वी भारत में है। इसके अधिकांश निबन्ध कामाख्यापीठ की शाश्वत साधना तथा असमिया लोक जीवन से प्रगाढ़ रूप से जुड़े हुए हैं जो लेखक के असमिया प्रवास की याद दिला जाते हैं। उत्तर कुरु में चन्द्रवंशीय आर्यों तथा यक्ष-किन्नर-गन्धर्व जातियों के समन्वय की कथा है। इस तरह से श्री राय ने भारतीय संस्कृति के तीन आधार माने हैं वैदिक, तान्त्रिक और लोकायत। लेखक लोकायत को उतना ही प्रमाणित मानने का पक्षधर है जितना वैदिक और तान्त्रिक को। तन्त्र विद्या केवल आगम और लोकायत नहीं है, वस्तुतः यह आर्य वैदिक विद्या द्वारा परिमार्जित होकर ही तन्त्र की संज्ञा धारण करती है अन्यथा वह मात्र लोक धर्म है। तन्त्र धर्म नहीं बन पाते हैं। तन्त्र धर्म के द्योतक शास्त्र ही आगम शास्त्र हैं। इस तरह से लेखक सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति का सूक्ष्म अवलोकन करके अपनी अनुसन्धान यात्रा में सफल होता हुआ दिखाई देता है। अस्तु, इस सन्दर्भ में लेखक का महत्वपूर्ण निबन्ध संग्रह 'उत्तर कुरु' अभूतपूर्व रचना है।

'उत्तर कुरु' प्रतीक है काव्यों और पुराणों में कल्पना या इच्छा लोक का और इतिहास परम्परा में यह प्रतीक है भारतीय आर्यत्व के बीज स्थान का जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध उत्तर कुरु, पांचाल, राजस्थान, गुजरात के शौरसेनी अपभ्रंश के क्षेत्रों से ही है। अप्रत्यक्ष सम्बन्ध समस्त उत्तर भारत की आर्य भाषा बोलने वाले जन समाज से है। ललित निबन्धकार कुबेर नाथ राय ने डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अभिमतों का उल्लेख करते हुए उत्तर कुरु की भूमिका में ही यह संकेत दिया है कि प्रथम तो आर्य-आर्येतर सम्बन्धों में संघर्ष से ज्यादा महत्वपूर्ण भूमिका रही है संयोग और सहयोग की और दूसरी यह कि आज भी भारतीय महाजाति का कोई घटक चाहे वह आर्य भाषा-भाषी हो या आर्येतर भाषा-भाषी विशुद्ध नहीं मिश्रित है। अतः इन दोनों बातों को ध्यान में रखते हुए विद्वानों को सहयोग एवं समन्वय पर बल देते हुए इनका कहना है कि एक ऐसे नृत्तत्वशास्त्र और समाजशास्त्र की रचना के लिए अग्रसर होना चाहिए जो अहिंसक हो, जो अवदान से मुक्त हो और जो सर्वोदयी हो। लेखक का मानना है कि भारतवर्ष की हर एक जाति-प्रजाति, जनजाति, सम्प्रदाय तथा हर एक बोली या भाषा अपनी निजी विशिष्टता रखती है और इसीलिए कला, साहित्य, और संस्कृति की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। पिछड़ी से पिछड़ी जाति या जनजाति के पास भी कुछ ऐसा है जो अत्यन्त उन्नत समाज के सदस्य के

लिए भी जानने और सीखने लायक है। प्रत्येक के पास अपनी ऋद्धि-सिद्धि है जो उसकी निजी मौलिकता है। भारत वर्ष को भारत वर्ष बनाने की प्रक्रिया में इन सभी वर्गों के लोगों का योगदान रहता है।

उत्तर कुरु के तीन निबन्ध 'उत्तर कुरु' जम्बूद्वीप और अनार्यावर्त ललित कम तथ्य प्रधान ज्यादा है। इन्हें ललित प्रबन्ध माना जा सकता है। इस निबन्ध संग्रह के अन्तर्गत 'दक्षिण कुरु' एवं पांचाल की पितर-संस्कृति का संकेत है। इसका सम्बन्ध चन्द्रवंशीय और हिमालय की गन्धर्व-किन्नर जातियों के समन्वय की कथा से है। अस्तु, महाभारतीय आर्य संस्कृति की नींव को यहाँ पर लेखक ने ललित निबन्धों के माध्यम से रेखांकित किया है।

'उत्तर कुरु और कदली वन' प्रस्तुत निबन्ध संग्रह का पहला निबन्ध है जिसमें हिमालय के उस पार उदीच्य जनपदों में से एक भारतीय पौराणिक मन के कल्पलोक 'उत्तर कुरु' की चर्चा है। यह दिव्य उत्तर कुरु आर्य इतिहास और कल्पना का अवदान है। परन्तु श्री राय के अनुसार आर्येतर परम्परा ने भी इसी के समानान्तर एक कल्पलोक या इच्छालोक प्रस्तुत किया है। लोकायत पुराणों के माध्यम से इस आर्येतर मन के कल्पलोक या इच्छालोक की संज्ञा 'कदली वन' भी लेखक ने दिया है। वस्तुतः कजरी वन, कदली वन, पद्मिनी वन एक ही संज्ञाएँ हैं, कदली या कण्डली हैं मूल शब्द। 'ड' का 'ज' हो जाता है। 'ल' यहाँ पर द्रविड़ 'ळ' है, जिसका उच्चारण 'ड' और 'र' के बीच होता है। अतः कडली, कदली, कजरी, कजली आदि शब्द एक ही हैं। श्री राय ने इन शब्दों को द्रविड़ भाषा का ही माना है। यों भारतीय संस्कृति और भाषा की नींव है 'निषाद' (मलय या आष्ट्रिक); आर्यावर्त और द्रविड़ भूमि दोनों के क्षेत्रों में एक ही ऐतिहासिक तथ्य है अतः लेखक ने यह शब्द मूल रूप से द्रविड़ ही न मानकर निषाद शब्द भी माना है। कदली नारी का अर्थ हुआ पद्मिनी नारी, अप्सरा कोटि की नारी; वह गीत-नृत्य-निपुण होती हैं और स्वच्छन्द कामचारिणी होती हैं। इसी से यायावर कन्याओं के लिए 'कजड़ी' शब्द चलता है और इसी कजड़ी से 'कंजरी' का विवर्तित रूप लेखक ने माना है। इस तरह से इस शब्द की व्याख्या करते हुए लेखक ने इसको मुण्डाकोल की निषाद नस्ल की 'चेरो' जन जाति का बताया है।

'उत्तर कुरु' शीर्षक की प्रेरणा लेखक को 'वाल्मीकि रामायण' और 'महाभारत' के उद्योग पर्व से मिली है। लेखक इस मनोरम काल्पनिक स्थल की चर्चा करते हुए इसकी वास्तविकता की तरफ अपना रुख मोड़ते हुए लिखता है कि यह नील पर्वत है या समुद्र पता नहीं चलता; परन्तु यह सन्दर्भ विचित्र संकेत देता है कि नील समुद्र (काला सागर) के दक्षिण में प्राचीन सुमेरिया के पार्श्व तथा उत्तर में काश्यप समुद्र की तटीय भूमि वर्तमान का रूपान्तर है। कोह का अर्थ है मेरु पर्वत 'काफ' वस्तुतः 'कास्प' का ही विवर्तित रूप है। कास्प > काप्स > काफ; 'प' और 'स' ध्वनियों का स्थान विनिमय एवं तत्पश्चात् 'स' का 'ह' में परिवर्तन। लेखक की धारणा है कि

आर्यों की पुराण गाथाओं का एक अंश (सर्वांग नहीं) उनके अन्तर्राष्ट्रीय ट्राइबल जीवन की अनुस्मृतियाँ हैं। प्रारम्भिक भूगोल स्थान निर्भर नहीं ट्राइबल-निर्भर था तथा भूगोल गतिशील था। काश्यप समुद्र से दक्षिण तथा पार्श्व में आर्य-बस्तियाँ थीं जो वरुण और इन्द्र की उपासक थीं। इनमें हित्ती (होती), हूरी (सुर) तथा मित्तनी (मैत्रायणी) मुख्य हैं। आदि काश्मीर (काश्यप मेरु) तथा मित्तानी (मैत्रायणी) मुख्य हैं। आदि काश्मीर (काश्यप मेरु) तथा उत्तर कुरु की आदिम अवस्थिति यहाँ होना आश्चर्य की बात नहीं।

कुरुक्षेत्र और सम्राट कुरु के मिथक के तह तक जाकर श्री राय ने अपना निष्कर्ष प्रस्तुत किया है। वर्तमान हरियाणा (कुरुक्षेत्र) में आकर कुरुगण पुराना ट्राइबल जीवन छोड़कर कृषक बने। जैसे-जैसे कुरु जाति इतिहास में भ्रमण करती गयी वैसे-वैसे 'कुरु' जनपद भी भ्रमण करता गया। अतः यह कभी हिमालय के उत्तर में था। वहाँ से कश्मीर उतरे, कश्मीर का एक भाग कुलू के रास्ते शिमला-जौनसार-कूर्माचल के पहाड़ी क्षेत्र की ओर चला गया और अपनी संस्कृति के आदिम रूप को सुरक्षित रखा तो दूसरा दल सरस्वती नदी के तट पर उतरकर यमुना की भूमि तक फैलता गया एक नयी शालीन पद्धति में। धीरे-धीरे ये कुरुगण अपने पूर्व रूप से सर्वथा भिन्न होते गये। इसके पूर्व आर्यों का मूल स्थान (काश्यप समुद्र से उत्तर वोल्गा से दक्षिण) से बिखरने पर कुरुओं का प्रथम पड़ाव काश्यप तट के पास लेखक ने माना है। 'उत्तर कुरु' की दक्षिणी सीमा भारतीय हिमालय के जनपद यानी कूर्माचल तथा हिमालय प्रदेश को माना है। निष्कर्षतः 'उत्तर कुरु' हमारी धरती की ही राग-विराग सुख-दुख वाला जनपद था जिसका इतिहास भूगोल भ्रमणशील रहा है। पामीर के पठार और चीनी, तुर्किस्तान से लेकर वर्तमान हिमाचल प्रदेश और उत्तरांचल के कूर्माचल तक। परन्तु कालान्तर में यह ऐतिहासिक कड़ी भूल गयी और उसका स्थान ले लिया मुक्त कल्पना ने; 'उत्तर कुरु' बन गया एक पुटके-पुटके मधु वाला लोक। वस्तुतः लेखक का तर्क सामने आता है कि जम्बूद्वीप की पौराणिक संज्ञा ही 'उत्तर कुरु' है। इसमें एक ओर वैदिक संस्कृति थी तो दूसरी ओर थी आर्य-आर्येतर लोक धर्म से उपजी भागवत संस्कृति। द्वापर की संस्कृति आर्य-आर्येतर निगम-आगम, श्रद्धा, स्वतन्त्र चिन्तन, यज्ञ, पूजा, होम, तीर्थ, अग्नि जल वाली थी। त्रेता पूर्ववर्ती आर्य कुलों (भरत और इच्छाकु) की गाथा है जो निषादों से मिल-जुलकर स्थित शील और शालीन हो चुके थे। द्वापर की गाथा निरन्तर धावमान आर्य कबीलों की गाथा है जो द्वापर के अन्त में आकर शूरसेन-कुरु-पांचाल के त्रिकोण पर थम जाती है।

'शैवाल में उलझा एक मुख कमल' में निबन्धकार का मन्तव्य है कि भारतीय संस्कृति एक महासमन्वय की उपज है। यह देवोपम आर्य पुरुषों एवं अप्सराओं अर्थात् आर्येतर जन-जातीय कन्याओं की मिश्रित सन्तानों की संस्कृति है। शकुन्तला सम्पूर्ण निसर्ग श्री का प्रतीक है और उसके चरित्र में उत्तर की नदी उपत्यकाओं तथा दक्षिण

की रंगीन माटी दोनों के गुणों का समावेश है। भारतीय इतिहास के आरम्भिक काल में महासमन्वय के ऐतिहासिक प्रक्रिया की यह प्रतीक है। बाद में भोजन और काम के सम्बन्ध में विधि-निषेध आश्रित पवित्रतावाद का परिणाम हुआ घनघोर घृणा और द्वेष। जो पवित्रतावाद हमारे अन्तर्निहित मनुष्यत्व को ही समाप्त कर दे, वह हमारे लिए ग्राह्य नहीं हो सकता।

‘शकुन्तला प्रतीक अर्थ’ में निबन्धकार की अवधारणा है कि भारतीय साहित्य में शकुन्तला कामना और रस बोध का विशिष्ट प्रतीक बनकर उपस्थित है। वह सरसा धरित्री की लौकिक भंगिमा को व्यक्त करती है और सौन्दर्य बोध के लौकिक संस्करण की एक भुवन मोहिनी छवि है। वह चिन्मय भारत की नहीं मृण्मय भारत की नायिका है। कालिदास ने उसके बिम्ब और चरित्र को इस देश की अरण्य श्री और निसर्ग लक्ष्मी के साथ एकान्तर करके रख दिया है। अर्थात् बड़ी कुशलता से आदिम भारतीय निसर्ग का समस्त मधु शकुन्तला के चरित्र में उतार दिया है।

लेखक ने आदिम भारतीय निसर्ग का अर्थ बताया है अरण्यक निषाद, किरात तथा आर्यों की सम्मिलित संस्कृति। पिछले निबन्ध में लेखक ने लिखा है कि इस कन्या (शकुन्तला) की रक्षा चित्र-विचित्र पंखों की छाया में हुई। ये चित्र-विचित्र पंखों की संस्कृति है किरात-निषाद और द्रविड़ की संस्कृति। शकुन्तला का पालन कार्य आर्य ऋषि कण्व के आश्रम में हुआ तथा विवाह भी आर्य राजा से हुआ अतः इस आर्य-आर्यतर समन्वित संस्कृति का द्योतक ‘अभिज्ञान शाकुन्तलम्’ की नायिका के भीतर धरती और आकाश परस्पर मिलित हैं।

‘भारतीय इतिहास की अप्सरा नाभि’ निबन्ध भी पूर्वोक्त निबन्धों की श्रेणी में आता है। यह निबन्ध भी शकुन्तला के मिथक पर आधारित है। इस कथा को माध्यम बनाते हुए श्री राय ने ‘नव्य-आर्य’ अर्थात् भारतीय आर्य की चर्चा को केन्द्र बनाने का सफल प्रयास किया है। लेखक का मानना है कि महाभारतीय आर्य शाखा के चन्द्रवंशियों की प्रसव योनि ही अप्सरा रचती है। आर्य-आर्यतर नस्लों का यह सामाजिक और सांस्कृतिक समन्वय ही वैदिकोत्तर युग की भारतीयता की जन्म भूमि है। यह भारतीय-संस्कृति की प्रागैतिहास का नाभिपद्म रचती है। हिमालय के अन्दर बसने वाली किरात-निषाद विभिन्न संस्कृति की पौराणिक प्रारूप यक्ष, गन्धर्व और अप्सरा इसके साथ-साथ जुड़े हैं।

लेखक ने ऐतिहासिक वास्तविकता का अलंकृत रूप कहते हुए अप्सरा को अपदेवता न मानकर अर्धदैवी जाति का माना है। यह किन्नर गन्धर्व की तरह भारतीय इतिहास की एक विस्मृत कड़ी है। लेखक ने इसे शत-प्रतिशत कल्पना नहीं माना है। अर्थात् ये अप्सराएँ भारतीय इतिहास कल्पित नहीं जीवन्त मातृकाएँ हैं। ये मानवीय कुल कन्याएँ अपने प्रेमी आर्य पुरुषों को भावातिरेक के कारण मनोमयी दिव्य सत्ताएँ लगी होंगी। लेखक का तात्पर्य यह है कि पुराणों की भाषा में मानव और देवता का

अर्थ आर्य मानव ही है। शेष आर्यतर मानवों के मिथकीय प्रारूप हैं यक्ष, असुर, नाग, किन्नर, गन्धर्व आदि।

‘चल मोरवा बारात रे’ में श्री कुबेरनाथ राय ने मयूर का आख्यान प्रस्तुत करते हुए मयूर को एक विशिष्ट सांस्कृतिक प्रतीक माना है और इसकी सांस्कृतिक महिमा के पीछे लेखक ने भारतीय ऐतिहासिक विकास का संकेत पाया है। कई मिथकों की व्याख्या के दौरान मयूर को केन्द्र बनाकर समन्वय की भूमिका का प्रतिपादन लेखक ने बड़े सहज और सरल रूप से अभिव्यक्त किया है। निबन्धकार अपनी अनुसंधानवृत्ति का सहारा लेते हुए मयूर को लोक धर्म और तन्त्र धर्म के अनेक विश्वासों से जुड़ा पक्षी स्वीकारता है।

‘नदी पतित पावनी : नदी मत्स्यगंधा’ में ललित निबन्धकार ने ललित शैली का भरपूर प्रयोग करते हुए नदी और नारी की प्रकृति के साम्य पर विचार किया है। श्री राय ने नदी की अनेक मनोरम छवि की बात करते-करते अपने मुख्य बिन्दु पर आकर अपनी रचना में संस्कृति का आयाम जोड़ दिया है। लेखक का प्रस्ताव है कि जिसे आज हम भारतीय या भारतीय दृष्टि कहते हैं, वह वैदिक आर्य दृष्टि से उद्भूत होते हुए भी उससे बहुत कुछ भिन्न समन्वित भारतीय दृष्टि है जिसमें आर्य-आर्यतर तत्त्वों का दुग्ध-शर्करा जैसा समन्वय हुआ है।

‘नदी अप्सरा और भरतगण’ निबन्ध की स्थापना है ‘गंगा’ से जुड़ी पौराणिक कथाएँ, जो सूर्य और चन्द्र, दोनों वंशों से जुड़ी हैं। ‘भरत- का अर्थ ‘आदित्य’ होता है और वे उनकी संततियाँ हैं। गंगा नामकरण किरातों और निषादों ने पहले ही कर दिया था। निषाद गंगा घाटी में कृषि तथा नौकायन का शुभारम्भ कर चुके थे। रघुवंशी भरतों ने इनके सहयोग से एक नये भारत वर्ष की नींव डाली और तेजस्वी व्याघ्रपम आर्यत्व के स्थान पर एक सावित्री प्रधान, सौम्यकान्त आर्यत्व को विकसित किया। कोसल प्रदेश ही गांगेय सभ्यता की नींव रचता है। लेखक की स्थापना है कि गंगा नदी प्रारम्भ में हिमालय की मकर वाहिनी यक्षिणी देवता मात्र थी, यक्षगण उदभिद् और जल से जुड़े उर्वरता के देवता थे।

‘यमुना सांवरी’ निबन्ध के अन्तर्गत यमुना के पौराणिक एवं ऐतिहासिक महत्त्व का निदर्शन हुआ है। यह नदी कभी पश्चिम और पूर्व की विभाजक रेखा थी। यमुना के पश्चिम से लेकर गांधार तक और फिर ऋषिक तुषार देश (चीनी तुर्किस्तान) है, लेखक ने उदीच्य बताया है। ब्राह्मण ग्रन्थ के विदेह माधव की कथानुसार लेखक ने बताया है कि उसी समय यमुना से लेकर गण्डक तक यज्ञभूमि (भारत वर्ष का पुराना नाम) का विस्तार हो गया। गण्डक यानी विदेह की मिथिला भारत का पूर्वी छोर बन गयी और उसके पूर्व माना गया मातृ सत्ता प्रधान ‘नारी राज्य’ अंगदेश। तब यह मिथिला का तटवर्ती इलाका आर्यतर द्राइबलों का इलाका था। यह घटना त्रेता के प्रारम्भ में ही घटित हुई। शूरसेन, पांचाल, कोसल, काशी, मगध और विदेह के क्षेत्र

आर्य भूमि में आ गये। इक्ष्वाकुओं और निषादों की संयुक्त नव्य आर्य संस्कृति का विकास इसी क्षेत्र में इतिहास के इस दौर में घटित हुआ। कालान्तर में भिन्न पथ से भिन्न किस्म के आर्यों का आगमन हुआ। उत्तर कुरु से जम्मू-कश्मीर के रास्ते से हिमालय प्रदेश और हिमालय के दक्षिणी भूमि में ये लोग जब सरस्वती तट से दक्षिणी यमुना गंगा के अन्तर्वेदी में उतरे तब उन्होंने कुरु-पांचाल शूरसेन जनपदों का विकास किया।

यमुना के 'कालिंदजा' नाम की व्याख्या करते हुए श्री राय ने वामन पुराण की एक मिथक के आधार पर अपनी चर्चा को आगे बढ़ाते हुए बताया है कि हिमालय की देव भूमि में आर्य (देव मनुष्य) और आर्येतर निषादों और किरातों (यक्ष-किन्नर-गन्धर्व) के बीच एक मधुर सम्बन्ध स्थापित हो चुका था और आर्य भाषा में पुराने आर्येतर नाम अल्प परिवर्तन के साथ-साथ आने लगे थे। अतः कालिन्दी का मूलतः 'कालिन्दी' (कालीन्दी) होना असम्भव नहीं। 'दी' ध्वनिखण्ड आर्येतर क्षेत्रों के नदी नामों में आज भी मौजूद है। 'दी'हाड़, 'दिसाड़' या 'दी' का 'ती' रूप 'गाड़ती' (गोमती), इत्यादि। इसी तरह के अनेक उदाहरणों से श्री राय ने अपनी बातों की पुष्टि की है। निष्कर्षतः उनका प्रस्ताव प्रामाणिकता पा जाता है कि हिमालय की देव भूमि आर्य-आर्येतर समन्वय भाषा और लोक संस्कृति के स्तर पर इतनी प्रगाढ़ हो गयी कि आर्य विशुद्धता में आर्येतर मिश्रण की सीमा या परिणाम स्थित करना आज कठिन है और उत्तर-कुरु की आर्य द्राइडलों में जो चन्द्रवंश से जुड़ी है यह मिश्रण और भी अधिक है।

'खौलती नदी, नाग और किशोर' शीर्षक निबन्ध में राय साहब 'नाग नथैया' लीला प्रसंग पर अपना अभिमत देते हुए पुनः यमुना नदी का स्मरण करते हैं। लेखक के अनुसार इस लीला का प्रतीकार्य बड़ा गहरा है। अपस्मार को रौदता हुआ नर्तित नटराज आधुनिक मनोविज्ञान में सर्प सेक्स का प्रतीक है; यहाँ पर काली नाग एक वृहत्तर प्रतीक है सारे नकारात्मक उत्तेजक मनोविकारों का।

'जखनी थान' निबन्ध में लेखक ने वाराणसी जनपद के 'जखनी थान' अर्थात् देव स्थान पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि 'जखनी' मूलतः 'यक्षिणी' है। 'काशी' क्षेत्र आदिम युग में यक्ष पूजा का क्षेत्र था। इनकी मान्यता है कि काशी की यक्षोपासना पर कालान्तर में शैवोपासना का आरोपन हो गया और वाराणसी का महायक्ष ही विशेश्वर शिव के रूप में उपस्थित है। 'दक्ष' और 'जक्ष' (यक्ष) को लेखक ने मूलतः एक ही शब्द माना है। आर्य देवमण्डल में पहले अग्र पूज्य अर्थात् प्रजापति था अग्नि। आर्यों का हवन आज भी 'श्री गणेशाय नमः' से नहीं 'ॐ प्रजापतये नमः' से शुरु होता है। बाद में प्रजापति का अर्थ हुआ ब्रह्मा फिर जब हिमालय के किरात, निषाद जनों से जिनके दिव्य प्रारूप 'दक्ष' और गन्धर्व अप्सरा हैं, सांस्कृतिक और रक्त मिश्रण हुआ तो आर्यों ने भी 'यक्ष' को महादेवता के रूप में स्वीकार लिया और उसी काल खण्ड का द्योतक है दक्ष अर्थात् 'यक्ष' का प्रजापति बनना। इस तरह जखिनी थान के

माध्यम से आर्येतर संस्कृति की यक्ष पूजा को जो आर्य संस्कृति में अन्तर्भुक्त हो गयी उसी 'यक्षिणी' की व्याख्या कर लेखक ने समन्वय की पृष्ठभूमि को रचा है।

'अगरु बनों की पग ध्वनि' के अन्तर्गत श्री राय ने मणिपुरी नृत्य की विशेषताओं का आनुभूतिक रेखांकन किया है। ये नृत्य किरात कन्याओं द्वारा किया जाता है। लेखक ने बताया है कि मणिपुर का जातीय नृत्य परम्परागत दृष्टि में सांस्कृतिक अनुष्ठान मात्र नहीं, यह उपासना और पूजा है। जिस तरह से आर्यों की कल्पना थी कि यज्ञभोग अर्थात् आहुति न पाने से देवताओं का बल क्षीण हो जाता है अमांगलिक शक्तियाँ प्रबल हो जाती हैं, उसी भाँति मणिपुर जन (किरात) की धारणा है कि मनुष्य द्वारा निवेदित नृत्य ही देवताओं का शक्ति स्रोत है।

'अनार्यावर्त' निबन्ध के अन्तर्गत कुबेरनाथ राय ने भारतीय महाजाति की संरचना पर विचार करते हुए नृत्तत्व शास्त्रीय और भाषा वैज्ञानिक पद्धतियों पर विचार करते हुए इन पद्धतियों का उपयोग समीचीन ठहराया है। नीग्रो, आदि निषाद, किरात, भूमध्ययी (दक्षिण) और आर्य प्रजातियों के रंग रूप की विशेषताओं का रेखांकन किया है। इस सन्दर्भ में लेखक की स्थापना है कि आज के भारतीय सन्दर्भ में दक्षिण वालों का द्रविड़ जातिवाद का नारा उतना ही खोखला है जितना कि उत्तर भारतीयों का 'आर्य जातिवाद' का। भारत वर्ष में 'भाषा और नस्ल' सर्वदा एक ही नहीं रहे। नस्ल जहाँ की तहाँ रह गयी और भाषा दक्षिण की ओर खिसकती गयी। भारत के द्रविड़ निषाद जो आर्यों के पूर्व यहाँ बसे थे, अपनी भाषा और धर्म को छोड़कर आर्य धर्म से दीक्षित हो गये तथा आर्य भाषा कुछ हद तक और आर्य धर्म का पूरा-पूरा रूपान्तर वर्तमान हिन्दू धर्म के रूप में उन्होंने कर डाला। आर्यों ने इनकी सारी संस्कृति और धर्म को अंगीकार कर लिया और इन्हें अपनी भाषा दे दी। इस प्रकार सरस्वती से लेकर ब्रह्मपुत्र तक एक मिली-जुली नई 'नस्ल' विकसित होती रही, जिसकी संज्ञा 'हिन्दू' या भारतीय हो सकती है। इस समन्वय के चलते हिन्दू धर्म और चिन्तन, साहित्य, भोजन और लोकाचार के स्तर पर तीन चौथाई आर्येतर अर्थात् अनार्य हैं।

'जम्बूद्वीप' शीर्षक निबन्ध में कुबेरनाथ राय ने जम्बूद्वीप के इतिहास-भूगोल एवं भारत वर्ष के साथ उनके अन्योन्याश्रित सम्बन्ध पर रोशनी डाली है। कुछ शब्दों का भूगोल मृण्मय न होकर चिन्मय होता है। उत्तर कुरु के आर्य कबीलों का भूगोल घुमन्तू रहा है, जो जम्बूद्वीप के लिए यह सर्वथा सत्य हैं, मोटे तौर पर श्री राय का यह तर्क है कि जम्बूद्वीप उत्तर कुरु के दक्षिण में वर्तमान है और दूसरा भारत वर्ष और पाकिस्तान इसके अन्तर्गत आते हैं। अफगानिस्तान को भी अपने सांस्कृतिक भारत का एक अंग समझना चाहिए। ग्रीक लोग तो इसे 'लघु भारत' (इण्डोमिनोर) कहते ही थे। यह 'गोमल' (वैदिक गोमती) 'कुभा' (वर्तमान काबुल) नदी और स्वात जैसी ऋग्वैदिक नदियों का ही प्रदेश है। अतः व्यवहार में जम्बूद्वीप का अर्थ 'वृहत्तर भारत' लेना लेखक ने सर्वथा उपयुक्त समझा है।

‘धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे’ शीर्षक निबन्ध में निबन्धकार ने महाभारत को अपना इतिहास तथा रामायण को काव्य अर्थात् महाभारत को यथार्थ और रामायण को आदर्श माना है। यहाँ पर श्री राय ने कुरुक्षेत्र को ‘धर्मक्षेत्र’ के नाम से विभूषित किया है। वस्तुतः यह क्षेत्र आर्य नायकों की लीलाभूमि रही ही है। इसे आर्यतर जनजातियों, यक्षपूजा तथा अप्सरा और गन्धर्व पूजा का भी प्रधान क्षेत्र लेखक ने बताया है। इस तरह से यह क्षेत्र को एक ही साथ आर्य धर्म तथा आर्यतर लोक धर्म की नींव का मुख्य क्षेत्र श्री राय ने इसे ही स्वीकारा है।

‘अँजुरी भर उत्सव’ निबन्ध में लेखक ने ‘वसन्त पंचमी’ के व्याज से उत्सव धर्मिता पर प्रकाश डाला है। आज की तिथि लेखक के मन में वीणा बजा रही है। इस वीणा की सुमधुर तरंगों में अपने ललित निबन्ध का आनन्द बिखेरते हुए भारतीय संस्कृति के मर्म को लेखक ने पाठक की आत्मा तक जोड़ने का सफल प्रयास किया है। धीरे-धीरे उत्सवों का वर्णन करते-करते इनकी लेखनी मुख्य बिन्दु पर आकर केन्द्रित हो जाती है। यथा ‘परा’ विद्या की देवी ‘वैदिक’ आर्य-संस्कृति की ‘सावित्री’ हैं। तो अप्सरा ‘विद्या’ की देवी आर्यतर संस्कृति की देवी है ‘सरस्वती’। श्री राय ने एक कथा के माध्यम से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सरस्वती पूजा द्वार से चालू हुई, इसका तात्पर्य यह है कि द्वार अर्थात् महाभारतीय युग के आर्य-आर्यतर महासमन्वय की उपज है आज की अराध्य सरस्वती का यह नया बिम्ब। इस बिम्ब की पृष्ठभूमि में गन्धर्व संस्कृति अर्थात् हिमालयी किरात संस्कृति है, जिनके दिव्य प्रारूप गन्धर्व और अप्सरा माने जाते हैं। इस तरह से ‘उत्तर कुरु’ निबन्ध में संकलित निबन्धों के माध्यम से कुबेरनाथ राय ने भारत के सांस्कृतिक इतिहास, उसके धार्मिक, पौराणिक विश्वास, मानवीय मूल्यादर्शों की पुनः पहचान का प्रशंसनीय प्रयास किया है। यह पहचान अनोखी पहचान है। राय साहब ने बौद्ध दर्शन, गीता, श्रीमद्भागवत आदि के व्याज से भारतीय संस्कृति के मूल्यों को सर्वत्र प्रीतिकर ढंग से उरेहने का अद्भुत प्रयास किया है। उनका यह प्रयास हमारी धरती हमारे देश के लिए सर्वथा प्रासंगिक है। भारतीय संस्कृति के कामदुहा स्रोत का आलोड़न करके उन्होंने मधु संचय किया है। समुद्र मंथन की भाँति अन्तर्मथन से जो रत्न उन्होंने निकाले उससे हमारी प्रतीकाञ्छन संस्कृति तार-तार मुखर हो उठी है। इस आर्य-आर्यतर समन्वित संस्कृति के प्रति श्री राय का मुग्ध भाव उनकी थाती भारतीय संस्कृति को नये कलेवर के साथ बहुत कुछ दे जाती है।

पाठकीय प्रतिक्रिया

‘चिन्तन-सृजन’ का जनवरी-मार्च अंक आज ही मिला। पत्रिका के लिये उत्सुकता बनी रहती है। तुरन्त ही सम्पादकीय पढ़ने के बाद देवेन्द्र इस्सर का आलेख ‘मीडिया: आतंकवाद उर्फ पशु का उदय’ पढ़ गया। मीडिया की आज की स्थिति पर इससे ज्यादा तीखी टिप्पणी नहीं हो सकती। इस्सर के विश्लेषण की वस्तुपरकता इतनी पारदर्शी है कि उन पर पूर्वाग्रह से ग्रस्त होने का आक्षेप नहीं किया जा सकता।

‘अंधा युग’ में डॉ धर्मवीर भारती ने जिस अंधे-बर्बर पशु का संकेत किया है वह हमारे अपने समय की उत्पत्ति है। सभ्य युग में प्रवेश के तमाम दावे करने के बावजूद क्या यह सच नहीं है कि ‘अर्थ-पिशाच’ के प्रभाव में वे सभी लोग आ गए हैं जो सभ्यता की, मानवता की और प्रजातंत्र की बड़ी बड़ी बातें करते दिखाई देते हैं। ऐसे लोगों के समक्ष मूल्य उनकी सुविधा के अनुसार बदल जाते हैं। लेकिन शाश्वत सच यह भी है कि जिन शब्दों के पीछे आचरण की शक्ति नहीं होती वे खोखले हो जाते हैं - अपना अर्थ खो देते हैं। देवेन्द्र जी ने जिन तथाकथित बुद्धिजीवियों की बात कही है उनकी प्रायोजित चर्चाओं में शैतान की गुराहट होती है, तर्क की शालीनता नहीं। तभी तो काश्मीर से निष्कासित पंडितों की पीड़ा अनुभव करने की संवेदना उनमें कभी दिखी नहीं। हाँ सुरक्षा बलों के विरुद्ध आक्रोश व्यक्त करते हुए उनका आभाहीन पौरुष फुफकारने लगता है। इस्सर जी ने ऐसे पाखंडी चेहरों को ‘सार्वजनिक बुद्धिजीवी’ की संज्ञा बहुत सही दी है। सचमुच हमारे देश के सार्वजनिक जीवन में ऐसे फर्जी लोगों का वर्चस्व बढ़ा है, जो परिस्थिति का विश्लेषण करने की समाज की विचार शक्ति को भ्रान्त कर देते हैं। मनुष्यता के लिये और प्रजातंत्र के लिये भी ये लोग आतंकवादियों की तरह ही खतरनाक हैं।

इस आलेख के अतिरिक्त डॉ. पुष्पपाल सिंह ने पुस्तक समीक्षा के संदर्भ में जो सवाल उठाये हैं वे हमारे साहित्यिक पर्यावरण पर छाई धुंध का दिग्दर्शन कराते हैं।

पाखण्ड के बढ़ते प्रभाव का प्रतिरोध करने का जो प्रयास आप ‘सृजन-चिन्तन’ के माध्यम से कर रहे हैं उसके लिये निःसंदेह बधाई के पात्र हैं। - **कैलाशचन्द्र पन्त, प्रधान सम्पादक ‘अक्षरा’, हिन्दी भवन, श्यामला हिल्स, भोपाल-462002।**

‘चिन्तन-सृजन’ का जनवरी-मार्च 2007 अंक प्राप्त हुआ। आपका संपादकीय इस देश के धृतराष्ट्रों के कर्ण गुहरों में यदि गुंजायमान हो सके तो राष्ट्र का भला हो

सकता है। क्यों कि उनके विवेक चक्षु बन्द हो चुके हैं। यह ऐसा न होता तो नालंद के ध्वंसावशेषों पर खड़े होकर वे उस ऐतिहासिक तथ्य को तो अस्वीकार न करते जिसका संकेत आपने नालंदा पर आयोजित सेमीनार के संदर्भ में अति सहजता से और तीक्ष्णता से किया है। भारत के इतिहास को जानने के लिए, इसी संदर्भ में, मध्य एशिया का इतिहास जानना आवश्यक है। प्रत्यक्ष: मध्य एशिया का इतिहास कहीं भारत का इतिहास न बन जाए, इस कारण चेतना दृष्टिसंपन्न व्यक्तियों को महापंडित राहुल सांकृत्यायन के मध्य एशिया का इतिहास - प्रथम खण्ड के 261 से प्रारम्भ कर 300 पृष्ठ तक आवश्यक पढ़ना चाहिए। यह कृति बिहार- राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना द्वारा 1985 में प्रकाशित की गई है।

एक बात और, श्री देवेन्द्र इस्सर के चिन्तनपरक, सचेक और सूचनाप्रद आलेख “मीडिया: आंतकवादउर्फ ‘पशु का उदय’” के संदर्भ में - ‘ब्रेव न्यू वर्ल्ड’ के लेखक विख्यात विज्ञान कथा लेखक एल्डस लियोनार्डहक्सले हैं, न कि आर्थ कोएसलर।

आपकी पत्रिका चिन्तन को आयाम प्रदान करने वाली पत्रिका है। - डॉ. **राजीव रंजन उपाध्याय, संपादक, विज्ञान कथा (त्रैमासिक), अध्यक्ष, भारतीय विज्ञान कथा लेखक समिति, परिसर कोठी काकेबाबू, देवकाली मार्ग, फैजाबाद-224001।**

‘चिन्तन-सृजन’ (त्रैमा.) का जनवरी-मार्च, 2007 का अंक प्राप्त कर प्रसन्नता की आन्तरिक अनुभूति हुई। यह पत्रिका इतनी विद्वत्प्रतिष्ठ हो गई है कि इसमें छपने के लिए प्रज्ञाप्रौढ लेखनियाँ भी समुत्सुक रहती हैं। आपने इस अंक में मेरे आलेख को सम्मिलित कर मुझे जो मूल्यांकित किया है, उसके लिए मैं आपका हृदय से आभारी हूँ।

यह अंक भी पूर्वार्कों की तरह ही ग्रन्थकल्प है, साथ ही गरिमापूर्ण विषयों की विवेचना से व्याप्त है। परन्तु, शाब्दिक अशुद्धियों से मुक्त रखने का समुचित प्रयास अपेक्षित रह गया है। उदाहरण स्वरूप मेरे ही आलेख को लिया जा सकता है। - डॉ. **श्रीरंजन सूरिदेव, पटना।**

‘चिन्तन-सृजन’ का नया अंक मिला, आपने बहुत प्रेमपूर्वक मेरा आलेख प्रकाशित किया, आभारी हूँ। ‘डायलॉग’ भी मिली।

‘चिन्तन-सृजन’ में ‘डायलॉग’ की विज्ञप्ति प्रत्येक अंक में जानी चाहिए जिसमें पिछले अंक की सामग्री सूचित की जा सकती है। जिनको रूचि होगी, वे उसे मँगाने के लिए तत्पर होंगे।

‘डायलॉग’ भी बहुत पसंद आया, इस पर विस्तार से फिर लिखूँगा। - डॉ. **पुष्पपाल सिंह, पूर्व प्रो. तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला।**

‘चिन्तन-सृजन’ का जनवरी-मार्च 2007 का अंक पढ़ा। ऐसी रचनाएँ देने के लिए - धन्यवाद। आजकल साहित्यिक-संदर्भों को परोसने वाली पुस्तकों के दलदल में ‘चिन्तन-सृजन’ निश्चय ही एक कमल है। हिन्दी साहित्य के विशेषज्ञों के लिखे विचार रचनाशीलता को व्यक्त करते हैं। सांस्कृतिक, धार्मिक, भाषायी अभिव्यक्ति के सशक्त माध्यम चिन्तन-सृजन को साधुवाद।

महेश प्रसाद पाठक, यूको बैंक, गिरिडीह शाखा, पो. गिरिडीह, जि. गिरिडीह-815301 (झारखण्ड)

‘चिन्तन-सृजन’, जनवरी-मार्च 2007 अंक का सबसे सुचिन्तित लेख, मननीय भी, ‘मीडिया: आंतकवाद उर्फ पशु का उदय, (देवेन्द्र इस्सर) ही है परन्तु इसका प्रतिकार प्रो. शल्य जी द्वारा कथित चिल्लानाही, नहीं है, बल्कि आपके संपादकीय आततायी और देशद्रोहियों का शस्त्र बल से निर्मम संहार ही है, और उसमें प्रबुद्ध जनता को भी हिस्सेदारी करनी होगी। दुर्भाग्य से (वर्तमान) सरकारें स्वयं कुछ करने में अक्षम और अनिच्छुक और जनता का सहयोग (यदि मिले भी तो) सूचित करने पर भड़क उठती हैं, ना बाबा ना, तुम कुछ मत करना।

राष्ट्रीयता का अभाव, उसे प्रेरित करने की अनिच्छा, थोथे उदारवाद की टपोरशंखी घोषणाएँ लोगों को जो कुछ समझते हैं, दिग्भ्रमित अलग करती हैं। क्या शंकर शरण जी ने कोई नया अध्ययन नहीं भेजा इस बार? कम्युनिस्टों की अंतरंग चर्चा आँख खोलन वाली उन्हीं की रचनाओं में मिलती है।

श्री रंजनजी का लेख जानकारी से भरा पड़ा है। यदि वे ‘हिन्दी साहित्य और बिहार’ के चार खण्डों का (परिषद् का ही प्रकाशन) उल्लेख भी कर देते तो अनुसंधिात्सुओं को अधिक जानकारी के लिए मार्ग भी मिल जाता। इस लेख में इन्होंने अपने कार्यों का कहीं उल्लेख नहीं किया! शालीलता की मिसाल है यह।

... शुभकामनाएँ लीजिए अपने सुकृत का। ‘चिन्तन-सृजन’, हिम्मतवार है, दमदार है। डरता नहीं।

श्री बाबूराम वर्मा, “उत्तरगिरि” 67, बल्लूपुर, देहरादून (उत्तराखण्ड)

‘चिन्तन-सृजन’ उच्चकोटि की भरपूर बौद्धिक, विचारोत्तेजक, खूबसूरत, और आकर्षक पत्रिका है। मनस्वेतना और सर्जनात्मकता दोनों को क्षमता से समृद्धि कर रही है। बौद्धिक खुराक के लिए पत्रिका संग्रहणीय है। ‘चिन्तन-सृजन’ के लिए मुबारक और मेरी शुभकामनाएँ। - **मधु सूदन दास, प्रसन्न विहार, आदर्श पाड़ा, बलांगिर-767001 (उड़ीसा)।**

‘चिन्तन-सृजन’ का संपादकीय पत्रकारिकता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। आज के मीडियाकर्मी अपने मूलभूत कर्तव्य से च्यूत हो गये हैं। वे यथार्थ और

सत्य के ऊपर बोझिल आवरण डालकर कथ्य के साथ अनाचार-दुराचार करते हैं। उनके अन्दर बहुविध का भय है, जिससे उनकी भावधारा भयाक्रान्त होकर अपनी राह बदल देती है, जिससे समाज का उपकार होना चाहिए था, पर इससे अपकार होने लगता है। फलतः समाज गुमराह होता जा रहा है। इन दोषों से सर्वथा मुक्त आप का संपादकीय समाज की आखों में अंगुली डालकर दिशा-निर्देश करनेवाला है। जनवरी-मार्च 2007 के अंक का संपादकीय 'आजादी के बाद की गुलामी' इसका ज्वलन्त उदाहरण है। वस्तुतः आजादी के बाद हम मानसिक दासता रूपी जंजीरों से जकड़ गये हैं, जिससे हमारा हृदय आज भी पराधीन बना हुआ है, जिससे हमारी संस्कृति नष्ट होती जा रही है।

आज संबंधवाची शब्दों का न तो हम प्रयोग करते हैं और न अपने बच्चे को प्रयोग करने देते हैं। जिस देश की भाषा अपसंस्कृत हो गयी हो, उस देश की संस्कृति कैसे सुरक्षित रह सकती है? इस प्रदर्शनवाले युग में हम नकलची होकर प्रदर्शन करते हैं, जिससे हमारी पोल खुलती जा रही है। फिर भी हम उसके प्रति उदासीन बने हुए हैं।

इस अंक के सभी लेख मानसिक खुराक तैयार करने में पूर्णतः समर्थ हैं और पत्रिका की प्रतिबद्धता के अनुकूल भी। पं श्रीरंजन सूरिदेव, विजय राघव रेड्डी, डॉ. सदानन्द प्रसाद गुप्त, देवेन्द्र इस्सर के आलेख इस दृष्टि से देखे जाएंगे। - **डॉ. धर्मदेव तिवारी, विनोदपुर, कटिहार (बिहार)**

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँ:

पुस्तकें

20वीं सदी का तेलगु साहित्य, संपादक: डॉ. विजयराघव रेड्डी, प्रकाशक: आलेख प्रकाशन वी-8, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032, संस्करण: प्रथम, 2006, पृष्ठ: 216, मूल्य: 270/- रुपए।

निकुंज, कविता-संग्रह, कवि, प्रकाशक: कुलवंत सिंह, 2 डी, बद्रीनाथ अणुशक्ति नगर, मुम्बई-94, संस्करण: 2006, पृष्ठ: 126., मूल्य: 50 रुपये।

शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य, श्री कृष्ण गोयल, प्रकाशक: मधुरिमा प्रकाशन, 307-बी पॉकेट 2, मयूर विहार, फेस-1, दिल्ली-110091, पृष्ठ: 28, मूल्य: मात्र 50 रुपये।

पत्रिकाएँ:

प्रथम प्रवक्ता, समाचार-विचार पाक्षिक, वर्ष: 6 अंक: 7, 16 फरवरी 2007 से 15 मई तक के अंक; संपादक: रामबहादुर राय, ए-26, सेक्टर-2, नोएडा, (उत्तर प्रदेश), पृष्ठ: 64, मूल्य: 12 रुपये।

विज्ञान-कथा, त्रैमासिक, वर्ष: 5 अंक: 18, दिसम्बर-फरवरी 2007; प्रकाशक, संपादक एवं मुद्रक: डॉ. राजीव रंजन उपाध्याय द्वारा भारतीय विज्ञान कथा लेखक समिति, फैजाबाद-224001, पृष्ठ: 32, मूल्य: 15/- रुपए।

सामान्यजन संदेश, 75वां अंक, विशेषांक, संपादक: डॉ ओमप्रकाश मिश्रा, प्रकाशक: सचिव, लोहिया अध्ययनकेन्द्र, सुभाष मार्ग, नागपुर-440 018, पृष्ठ: 120, मूल्य: 15 रु.

युद्धरत आम आदमी, जन-साहित्य का दस्तावेजी त्रैमासिक, पूर्वोत्तर का आदिवासी स्वर, खंड-1, विशेषांक-2005 (पूर्णांक-75), संपादक-प्रकाशक-मुद्रक: रमणिका गुप्ता, द्वारा रमणिका फाउंडेशन, मेन रोड, हजारीबाग (झारखंड), पृष्ठ: 264, मूल्य: 70/- रु.

शब्दशिखर, साहित्य, संस्कृति एवं जनचेतना की पत्रिका, अंक-8, जनवरी

2007, संपादक: आनन्दप्रकाश त्रिपाठी, 'कथायन', यादव कालोनी (पटेल का बगीचा), सागर-470001(म. प्र.), पृष्ठ: 224, मूल्य: 50/- रु.

प्रवासी टुडे, देश-विदेश के बीच का पुल, वर्ष 2, अंक 1, जनवरी, 2007, संपादक: डॉ. पद्मेश गुप्त; स्वामी, प्रकाशक एवं मुद्रक: श्रीमती सरोज शर्मा, 51-द्वितीय तल, रानी झांसी रोड, पहाड़गंज, नयी दिल्ली-110 055, पृष्ठ: 74, मूल्य: 20/- रु.

साहित्य अमृत, मासिक, साहित्य एवं संस्कृति का संवाहक, वर्ष-12 अंक-5, दिसंबर 2006, संपादक: डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी; प्रकाशक, मुद्रक तथा स्वत्वाधिकारी: श्यामसुंदर, 4/19, आसफ अली रोड, नई दिल्ली-110002, पृष्ठ: 66, मूल्य: 15 रुपए।

अंजुरि, अर्द्ध वार्षिक, हिन्दी साहित्य की बहुमुखी वैचारिक पत्रिका; जुलाई-दिसम्बर 2006, संपादक/प्रकाशक: बैनीकृष्ण शर्मा, अंजुरि प्रकाशन, आर 1/17, नवादा हाउसिंग कॉम्प्लेक्स, नजफगढ़ रोड़, नई दिल्ली-59. पृष्ठ: 104, मूल्य: 20 रुपये।

अटूट आस्था, हिन्दी मासिक पत्रिका, अंक -1, माह-नवम्बर, वर्ष-2006, प्रकाशक एवं संपादक: मुकेश कुमार सोनी, 102/1 बी, काशीपुर रोड, कोलकाता-2. पृष्ठ: 16, मूल्य: 15/- रुपये।

प्रज्ञालु, मासिक, शैक्षिक एवं साहित्यिक दर्पण, वर्ष: 5 अंक: 2, प्रकाशक-सम्पादक: अनूपचन्द, महाजन गली, सांपला (हरियाणा), पृष्ठ: 4, मूल्य: 1 रुपया।

खबरी, राष्ट्रभाषा में प्रकाशित गुजरात की दमदार पाक्षिक पत्रिका, वर्ष: 4 अंक: 14 दिनांक: 16 से 28 फरवरी-2007, संपादक: विनीत एच. दुबे, कार्या: 936, भाट की पोल, गोमतीपुर गाम, अहमदाबाद -21, पृष्ठ: 4, मूल्य: 2रु.

बुन्देली बसंत, अंक 8, वर्ष 8, फावरी 2007; संपादक: डॉ. बहादुर सिंह परमार, प्रकाशक: बुन्देली विकास संस्थान, बसारी, जिला छतरपुर (म. प्र.); पृष्ठ: 128, मूल्य: 100/- रुपये।

साहित्य परिक्रमा, अखिल भारतीय साहित्य परिषद् न्यास का साहित्यिक उपक्रम, अक्टूबर-दिसम्बर 2006, वर्ष: 7 अंक: 3; संपादक: योगेन्द्र गोस्वामी, प्रकाशक: अखिल भारतीय साहित्य परिषद् न्यास, बाबा साहब आपटे भवन, देशबंधु गुप्ता रोड, झंडेवालान, नई दिल्ली-110055, पृष्ठ: 60, मूल्य: 15/- रुपये।

गोदारण, नारी-मुक्ति, यौन क्रांति और 'चाक', अंक-6, जनवरी-2006, सम्पादक: डॉ. भरत सिंह, 1/220 ए, साकेत कालोनी, अलीगढ़-202001, पृष्ठ: 112, मूल्य: 25 रुपये।

नया, हिन्दी पत्रिका, वर्ष प्रथम, अंक तृतीय, अक्टूबर-दिसम्बर 2006; प्रकाशक एवं सम्पादक: डॉ. मधुकर गंगाधर, मुकुल प्रकाशन, जे.- 4, पूर्वी विनोद नगर, दिल्ली-110091, पृष्ठ: 116, मूल्य: 25 रुपये।

सुमन सागर, ज्ञान और मनोरंजन की त्रैमासिक पत्रिका, अंक 14-16, स्वामी,

प्रकाशक, मुद्रक: श्याम बिहारीआलोक, द्वारा ऊँ नमः शिवाय प्रकाशक समूह, विनीता भवन, काजीचक, बाढ़-803213, पटना (बिहार), पृष्ठ: 22, मूल्य: 5/-रु.

अभिनव प्रत्यक्ष (साहित्यिक एवं सांस्कृतिक नवचेतना का समसामयिक मासिक), वर्ष: 32 मार्च 2007 ई. अंक: 03 सम्पादक: नरेन्द्र द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा कर्मयोगी प्रेस, न्यू लंगरटोली, पटना-4, पृष्ठ: 12, मूल्य: 6/- रु.

7 डेज, 19 मई 2007 वर्ष: 2, अंक: 20, संपूर्ण हिन्दी साप्ताहिक, संपादक: डॉ. रवीन्द्र कुमार सिंह, संपादकीय एवं विज्ञापन कार्यालय: 78 बी, काली मंदिर रोड, वर्दमान कंपाउंड, रांची-834001 (झारखण्ड) पृष्ठ: 20, मूल्य: 5 रुपये।

सभ्यता संस्कृति, वैचारिक पत्रिका SABHYATA SANSKRITI, INTERNATIONAL MONTHLY, February 2007 No. 56, Edited and Published by: Dr. Richa Singh at B-4/245, Safdarjung Enclave, New Delhi-110029, Page: 4, Rs. 10/- per copy.

The DAYAFTER, An International Illustrated Newsmagazine, Pravasi Bharatiya, 1-15 January, 2007, Volume XXIII Number 1; Editor-in-Chief: Sunil Dang, L-77, Ground Floor, Lajpat Nagar-II, New Delhi-110 024.

Ek Kadam, October, November, December, 2006, a part of the core support of the Dept. of Science and Technology (DST), New Delhi, Tamulpur Anchalik Gramdan Sangha: P.O. Kumarikata: Dist. Baska, Assam-781360.

APEEJAY Business Review, Vol. 6&7 1&2 January 2005-December 2006, The Journal for Strategic Makers, Apeejay School of Management, Sector-8, Dwarka Institutional Area, New Delhi-110 075.

Nation Speaks! An Insight into India's National Security Threats, January-April, 2007, Vol. II, No.1, Patriots' Forum, 204, Munirka Enclave, New Delhi-110067. Page: 24.